सितंबर 2006 सात रुपये

# आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक

उत्तर आधुनिकता की बुनियादी बहस... – *मैनेजर पांडेय*
नाटककार प्रेमचंद – *सिद्धनाथ कुमार*
जापान के हिंदी सेवी साइजी माकिनो से *रत्नावली कौशिक* की बातचीत
कौमी एकता के प्रतीक : राही मासूम रजा – *चंद्रशेखर पाण्डेय*
अन्तोन चेखव, अमर गोस्वामी और ज्ञानप्रकाश विवेक की कहानियां
विद्याभूषण, जगतारजीत, रमेश चंद्र पंत की कविताएं और अन्य स्तंभ

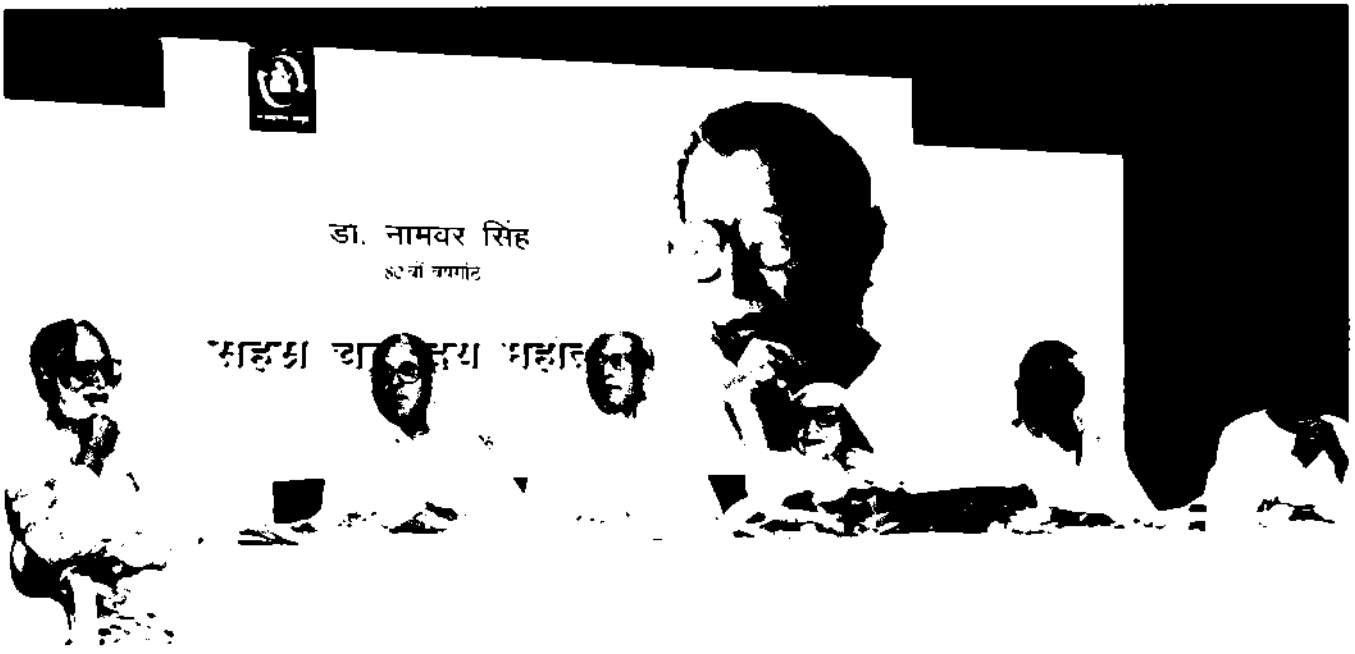


*सहस्र चंद्रोदय महोत्सव में काशीनाथ सिंह, पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह, नामवर सिंह, कृष्णा सोबती, ए.बी. बर्धन और प्रभाष जोशी*

## अस्सी साल के हुए नामवर

# किसी बड़े सपने के लिए जीना चाहता हूं !

**– नामवर सिंह**

**प्रस्तुति : श्याम सुशील**

हिंदी के आलोचक डा. नामवर सिंह ने जीवन के अस्सी बसंत पूरे कर लिए हैं। पांच साल पहले जब वे 75 के हुए थे तो समूचे हिंदी जगत ने उनका अमृत महोत्सव मनाया था और 'नामवर के निमित्त' कार्यक्रम के अंतर्गत दिल्ली, पटना, भोपाल, जोधपुर, बनारस आदि अनेक शहरों में साल भर तक समारोहों का आयोजन किया गया था। इस बार हिंदी आलोचना के 'शिखर पुरुष' की 80वीं वर्षगांठ को सहस्र चन्द्रोदय महोत्सव के रूप में मनाया गया।

डा. नामवर सिंह ने अपने जीवन के अस्सी वर्ष पूरे होने को बनारस की स्मृतियों से जोड़ते हुए कहा कि बनारस शहर में जहां पहली बार मैंने रहने के लिए मकान लिया तो संयोग से वह 'अस्सी घाट' था। आज तक मैं समझ नहीं सका वह अस्सी घाट क्यों है। आज मेरी समझ में आया कि मैं अस्सी साल का होऊंगा। वैसे उसे अमर बनाया है काशी ने *काशी का अस्सी* किताब लिखकर। वे (काशीनाथ सिंह) देखने में ही मुझसे बड़े नहीं दिखते हैं, वे साहित्य में भी मुझसे बड़े हैं मैं बोलता ही रहा लेकिन उन्होंने जो लिखा है वह काफी समय तक रहेगा। अपनी ओर से मौन कृतज्ञता व्यक्त करते हुए डा. नामवर सिंह ने कबीर के पद 'बोलना रे क्या कहिए भाई, बोलत-बोलत तत्व नसाई' और निराला की काव्य पंक्ति 'बोलूं अल्प न करूं जल्पना' के माध्यम से यह संकेत देने की कोशिश की कि उन्होंने सारा कुछ बोलकर कह दिया और उसी में सारा तत्व बह गया। लेकिन इसी के साथ उन्होंने अपनी जीवटता का परिचय भी दिया। अपने समकालीन कवि कुंवर नारायण की काव्य पंक्तियों को याद करते हुए उन्होंने कहा कि 'कोई खास बात नहीं, बचे समय में एक छोटा-सा जीवन जीना चाहता हूं, किसी बड़े सपने के लिए।' उन्होंने यह भी जोड़ा कि जीना ही काफी नहीं है, एक सार्थक जीवन जीना जरूरी है।

राजकमल समूह द्वारा 28 जुलाई 2006 को दिल्ली के त्रिवेणी संगम सभागार में एक समारोह का आयोजन किया गया जिसमें मधुप मुद्गल के शास्त्रीय गायन के साथ-साथ नामवर जी के पत्रों, संस्मरणों और बातचीत पर आधारित तीन पुस्तकों *काशी के नाम, घर का जोगी जोगड़ा* और *बात-बात में बात* का लोकार्पण भी हुआ।

कार्यक्रम के प्रारंभ में वरिष्ठ पत्रकार प्रभाष जोशी ने डा. नामवर सिंह को हिंदी समाज की महान विभूति बताते हुए उनकी 80वीं वर्षगांठ पर आयोजित महोत्सव के महत्व को उजागर किया। उन्होंने कहा कि नामवर जी अपने हिंदी समाज के मात्र एक बड़े अध्यापक, मात्र एक बड़े आलोचक, मात्र एक बहुत बड़े विवादों को उठाने वाले ही नहीं रहे, बल्कि हिंदी समाज के वे ऐसे व्यक्ति हैं जिनको किसी भी मामले में खड़ा किया जा सकता है जो अपने आंगन,

**शेष पृष्ठ ३४ पर जारी**

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 1-48

स्थापित 1945

# इस अंक में

# आजकल

वर्ष : 62; अंक : 5; पूर्णांक : 743
सितंबर 2006, भाद्रपद-आश्विन 1928

संपादक
**प्रवीण उपाध्याय**

सहायक संपादक
**सीमा ओझा**

आवरण सज्जा : *अलका नय्यर*
आवरण कला कृतियां : *बंसीलाल परमार*

**संपादकीय पत्र व्यवहार :**
संपादक
**आजकल** : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन : 2436 2915
website www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
**एन.सी. मजूमदार**

चंदे की दरें :
वार्षिक : 70 रुपये; दो वर्ष: 135 रुपये;
तीन वर्ष : 190 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 500 रुपये
शेष विश्व : 700 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :
**जगदीश प्रसाद**
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066 फोन : 26105590

**हमारे विक्रय केंद्र**
**नई दिल्ली** : सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 24367260
**लखनऊ** : दूसरी मंजिल, हाल नं. 1, केंद्रीय भवन, अलीगंज, लखनऊ-226024;
**कोलकाता** : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 22488030
**पटना** : बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 2300096
**मुम्बई** : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुंबई-400614;
**बंगलौर** : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कारामंगला दूरभाष : 25537244
**हैदराबाद** : ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कॉप्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली; दूरभाष : 2236393
**चेन्नई** : राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष : 24917673
**तिरुअनंतपुरम** : गवर्मेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 2330650

टाइपसेट : ज्योति लेजर टाइपसेटिंग

## लेख

**7. उत्तर आधुनिकता की बुनियादी बहस मार्क्सवाद से है**
**प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय** *से*
*देवेन्द्र चौबे की बातचीत*

**11. शैलीकार : कन्हैयालाल मिश्र**
मिश्र जी बादशाह दिल आदमी थे। उनका समूचा व्यक्तित्व 'कंजूसी' शब्द का विलोम है। कहीं झिझक नहीं, अटक नहीं, सीमा भी नहीं। निर्बाध, निसीम, विशाल और विपुल 'यो वै भूमा तत्सुखम्', भूमा में यानी विपुलता-विशालता में ही सुख है, अल्प में नहीं। कन्हैयालाल मिश्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर
*विष्णु प्रभाकर*

**15. कौमी एकता के प्रतीक : राही मासूम रजा**
राही मासूम रजा आधुनिक हिंदी साहित्य के पथ पर चलने वाले एक ऐसे राहगीर हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में साम्प्रदायिक सद्भावना का संतुर बजाया है। अपनी साहित्यिक जिन्दगी में कुल आठ उपन्यास लिखे जिनमें 'कौमी एकता' की तस्वीर साफ-साफ प्रतिबिम्बित होती है। राही मासूम रजा के व्यक्तित्व पर
*चन्द्रशेखर पाण्डेय*

**17. प्रेमचंद के समकालीन सुदर्शन**
सुदर्शन की कहानियों में जो दिल आवेजी है वह दूसरों में बहुत कम नजर आती है। यहां आपको नयी तरकीबें और बंदिशें नहीं मिलती। प्रेमचंद के समकालीन हिंदी के सुप्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर रोशनी डाल रहे हैं *मदन गोपाल*

**21. अपना घर**
मेरा लगाव मेरा घर है। यह कहीं और नहीं मिलेगा। अब इस ढलती उमर में दूसरा घर सजा भी तो नहीं पाऊंगी। इन पुराने बिस्तरों की धूल को मुझे ही झाड़ते रहना चाहिए। इन सब बातों को भूल भी जाऊं तो मेरे घर के देवता-पित्तर को अगियारी कैसे मिलेगी? अपनी परंपराओं और संस्कृति से जुड़ाव की बेचैनी को व्यक्त कर रही हैं *आशा रानी लाल*

**34. नाटककार प्रेमचंद**
नाटककार प्रेमचंद के संबंध में सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि उनके कथा-साहित्य की तरह ही उनके नाटकों की मूल प्रेरक शक्ति सोद्देश्यता ही है, पर जैसी सशक्त सामाजिक चेतना कथा-कृतियों में व्यक्त हुई है वैसी नाटकों में नहीं मिलती, यों उन्होंने नाटक कम ही लिखे हैं। प्रेमचंद के साथ ऐसा नहीं हो सका क्यों? इसके कारणों की पड़ताल कर रहे हैं
*सिद्धनाथ कुमार*

## साक्षात्कार

**19. हिंदी विश्वशांति की भाषा है !**
**साइजी माकिनो** *से*
*रत्नावली कौशिक की*
*बातचीत*

## कहानी

**13. रीढ़ विहीन**
(रूसी कहानी का नाट्य रूपांतर)
*अन्तोन चेखव*
*रूपांतर : सत्येन्द्र शरत्*

**27. लंपट**
*अमर गोस्वामी*

**39. कैद**
*ज्ञानप्रकाश विवेक*

## कविताएं

**23. तीन कविताएं**
*विद्याभूषण*

**24. तीन कविताएं** (पंजाबी)
*जगतारजीत*

**25. दो कविताएं**
*बी.एम.डी. अग्रवाल*

**दो कविताएं**
*कुहेली भट्टाचार्य*

**26. चार ग़ज़लें**
*रमेश चंद्र पंत*

**चलो चलें**
*ओमप्रकाश सिंह*

## स्तंभ

**2. प्रसंगवश**
**3. पत्र**
**45. पुस्तक समीक्षा**

# प्रसंगवश...

जीवन मिलता नहीं है, निर्मित करना होता है। जन्म मिलता है, जीवन निर्मित करना होता है। इसीलिए जन्मजात श्रेष्ठता का कोई अर्थ नहीं है। समाज के लिए व्यक्ति कि उपयोगिता ही उसे समाज में उचित सम्मान और स्नेह दिलाती है। उपयोगी जीवन के लिए शिक्षा की जरूरत होती है। शिक्षा का एक ही अर्थ है कि हम जीवन की कला सीख सकें। जीवन की कला सीखने के लिए हमें गुरु की आवश्यकता होती है। इसलिए प्राचीन काल से ही भारत में गुरु का स्थान सबसे ऊंचा है। तभी तो परम तत्व ज्ञानी कबीर कहते हैं : "गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पांय, बलिहारी गुरु आपने जो गोविंद दियो बताए।"

आधुनिक युग में गुरु का स्थान शिक्षक ने ले लिया है। शिक्षकों के प्रति आदर और सम्मान प्रकट करने के लिए हर साल पांच सितंबर को हम शिक्षक दिवस मनाते हैं। कुछ शिक्षकों को पुरस्कार और पत्र-पुष्प भेंट करके उनके प्रति अपने कर्त्तव्य की हम इतिश्री कर लेते हैं और फिर पूरे साल उन्हें भुला देते हैं। ऐसा क्यों है? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने की जरूरत है। गुरु और शिष्य के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है। इसके कारणों का विवेचन करते वक्त हमें एक नजर अपनी शिक्षा प्रणाली पर भी डालनी होगी। वर्तमान शिक्षा संस्थाएं और विश्वविद्यालय बुद्धिजीवियों की एक फौज तैयार कर रहे हैं जिनका सारा ध्यान अस्तित्व को संवारने पर केंद्रित रहता है। यह अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की देन है। भारत में शिक्षा-दीक्षा की अपनी एक परंपरा रही है जो आज विलुप्तप्राय हो जाने पर भी हमारी स्मृति में सुरक्षित है। उन गुरुकुलों या आश्रमों में प्रवेश लेते ही विद्यार्थियों में राजा-रंक, धनी-निर्धन का भेद मिट जाया करता था। कृष्ण और सुदामा एक ही गुरुकुल में पढ़े थे— उज्जैन के संदीपन आश्रम में। वहां का नियम यह था, एक बार एडमिशन लिया, प्रवेश लिया, राजा और रंक का भेद मिट गया। स्नातक में कुलगुरु का ज्ञान ही नहीं, उसकी महिमा भी संक्रमित होती थी। इसी से स्नातक अपने आचार्य कुल से ही पहचाना जाता था। उस समय के अनेक कुलगुरु अपनी अत्यंत क्रांतिकारी जीवन दृष्टि के लिए प्रख्यात थे और उनकी शिष्य परम्परा समाज को गतिरुद्ध करने वाली रूढ़ियों को खंड-खंड करने का संकल्प लेकर कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करती थी। 'सा विद्या या विमुक्तये'।

अर्थात ! विद्या वही है जो हमको मुक्त करे। किसी प्रकार की लाग-लपेट न हो । संघर्षों में जीवन में विचार में— सबमें कोई भय न हो, सत्य को हम बोल सकें।

इसमें कोई दो राय नहीं कि स्वतंत्र भारत में शिक्षा और साक्षरता का बड़ी तेजी से प्रसार हुआ है। यह स्वाभाविक था, क्योंकि जब एक समाज अपने भविष्य के निर्माण के लिए स्वतंत्र हो जाता है, तो वह चतुर्मुखी विकास करने में समर्थ होता है। वह पहले शिक्षा की ओर ध्यान देता है क्योंकि शिक्षा दूसरी दिशाओं में विकास की जड़ है, मूलाधार है। अशिक्षित समाज विकास करने में असमर्थ होता है। इस कारण हमारे समाज ने राज्यों पर यह उत्तरदायित्व डाला है कि 14 वर्ष की आयु तक शिक्षा अनिवार्य की जाए इससे शिक्षा क्षेत्र में प्रगति भी हुई है। परंतु इस प्रगति के लाभ से अब भी एक बहुत बड़ा वर्ग, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग वंचित है।

शिक्षा प्रसार का एक परिणाम यह हुआ है कि साक्षरों की संख्या बढ़ी है। निरक्षर साक्षर हो जाते हैं, तो उनमें अखबार पढ़ने के कारण सामाजिक जाग्रति भी बढ़ती है। साधारण लोग सार्वजनिक कार्यों और मामलों में दिलचस्पी लेने लगते हैं। शिक्षा क्षेत्र में इस उन्नति और विकास का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है यह विचारणीय प्रश्न उठते ही हमारे सामने छात्र अशांति की समस्या आ जाती है। हाल ही में आरक्षण को लेकर देश की राजधानी दिल्ली और अन्य राज्यों में काफी आंदोलन हुआ है। स्वतंत्रता से पूर्व ऐसी छात्र अशांति देखने में नहीं आई थी। यह एक महत्वपूर्ण समस्या है जो समाज को जड़ से हिला रही है तथा अगली पीढ़ी को गुमराह कर रही है। इसके पीछे कई कारण हैं। राजनीतिक तो हैं ही मुख्य कारण है छात्रों का वर्तमान शिक्षा के ढांचे, प्रणाली तथा गठन के प्रति आक्रोश, क्योंकि यह उनका भविष्य उज्ज्वल, आशापूर्ण और सुखमय बनाने की बजाय उसको अंधकारमय, निराशाजनक और कष्टदायक बना देती है। दिशा देने की बजाय, उनको दिशाहीन बना देती है। उनको रोजी कमाने लायक न बनाकर बेरोजगारी के मायाजाल में फंसा देती है। यही अनिश्चित भविष्य आज के छात्र आक्रोश का कारण है। शिक्षा के क्षेत्र में नैतिकता का भी बड़ा ह्रास हुआ है। हमने शिक्षा दी, ज्ञानवर्धन किया, हुनर सिखाए लेकिन मानव नहीं बनाया, चरित्र का निर्माण नहीं किया। आज का छात्र वर्ग गुरुजनों के चरित्र से बहुत प्रभावित होता है और यह भी याद रखने की बात है कि वह जो देखता है उससे ज्यादा प्रभावित होता है और जो सुनता है उससे कम। 'चरित्रमेव जयते'।

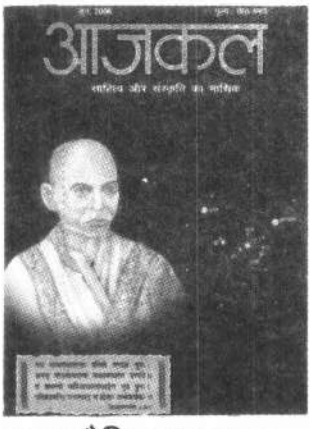


## एक सैनिक का पत्र

• मैं हिंदी शिक्षक (स्नातक) के पद पर असम राइफल्स में कार्यरत हूं। मेरा कार्य-क्षेत्र पूर्वोत्तर के अत्यंत पिछड़े राज्य मणिपुर के एक दुरुह जगह पर है। यह इम्फाल से करीब 70 किमी दूर पहाड़ियों पर स्थित है। यहां न तो बाजार है और न ही फोन की सुविधा। मुख्य बाजार तक का दर्शन साल में एक बार छुट्टी आते वक्त ही होता है। इस घोर अभाव वाले क्षेत्र में भी मैं किसी न किसी तरह *आजकल* मंगा लेता हूं।

साहित्य व संस्कृति की सार्थकता को प्रतिबिम्बित करती यह पत्रिका शिक्षा जगत से जुड़े सशक्त हस्ताक्षरों की पुस्तकों से हमें दो-चार कराती है।

'गागर में सागर' को चरितार्थ करती यह पत्रिका हमारे मनोमस्तिष्क को अच्छे विचारों से भर देती है। मैं इस पत्रिका का नया पाठक हूं, लेकिन एक बार पढ़ लेने के बाद मैं उसके मोहपाश के बंधन से आजाद न हो सका, और इस 'सोने के पिजड़े' में खुद-ब-खुद कैद होने को आतुर हो गया हूं। मैं बिहार का रहने वाला हूं, नागार्जुन के बारे में सुना था, लेकिन जून अंक में 'रतिनाथ की चाची' और 'स्त्री की पराधीनता का प्रश्न' की समालोचना ने काफी प्रभावित किया। सामंत चंद्रशेखर सिंह पर लेख रोचक व समीचीन लगा।

तेलुगु साहित्यकार बालशौरि रेड्डी के साथ साक्षात्कार में उनका कहना कि मैंने गांधीजी से हिंदी में हस्ताक्षर करना सीखा। दिल को छू गया। दाराशिकोह को इतिहास में वह स्थान न मिला, जिसके वे हकदार थे, नवीन पंत को उनके बारे में अच्छी जानकारी देने के लिए धन्यवाद। क्षितीन्द्र नारायण की विज्ञान कथा रोचक लगी।

मनोहर श्याम जोशी के असामयिक निधन से दुख पहुंचा। उनके साथ माजदा असद के बिताए क्षण, उनके स्वभाव व खूबियों से दो-चार हुआ। इस तरह जून अंक काफी सारगर्भित व समीचीन है।

उत्तर-पूर्व के लेखकों की भी रचनाएं प्रकाशित करें ताकि उन्हें भी लगे कि हम भी भारत के एक अंग है।

मैं यह पत्रिका सैनिक भाइयों को भी पढ़ने के लिए देता हूं ताकि उन्हें भी सही जानकारी मिले।

*- प्रभाष कुमार,*
*इम्फाल, मणिपुर*

## साहित्य सृजन है पत्रिका में

• किसी भी पत्रिका को लिखने वाला मेरा यह पहला पत्र है। इस पत्रिका को खरीदने के पश्चात काफी कुछ प्रसंग ऐसे आए हैं कि पत्र लिखने को विवश हो गया। पत्रिका अच्छी है, साहित्य 'सृजन' होता है आलोचना उसकी एक प्रकार की विधा होती है, परंतु वही आलोचना जब शब्द रूपी माध्यम से किसी समाज विशेष की बुराई करने लगे तो आप उस साहित्य को क्या कहेंगे?

पुरोहितवाद से लगभग हर तबका प्रभावित है परंतु इसका संबंध ब्राह्मणवाद से बिलकुल नहीं है क्योंकि उन पर खण्डों का प्रभाव इनके जीवन पर भी देखा जा सकता है ये तो मानसिकता है शोषक या शोषित की, इसमें जाति या सम्प्रदाय को दोषी ठहराना उचित नहीं है, मत कीजिए आप सामाजिक तथा कथित पाखण्ड को कोई भी पुरोहित पण्डा या ब्राह्मण आपके यहां शिकायत लेकर नहीं जाएंगे, परंतु आप अपने इर्द-गिर्द समाज के शोषक मानसिक वाले व्यक्तियों से नहीं बच सकते।...विषय बहुत लम्बा हो जाएगा।

आज समाज ने नंगेपन को अश्लीलता मान लिया है तथाकथित सभ्य समाज को नंगेपन से घृणा है क्योंकि वहां पेट है साहित्य को अगवा करके मात्र कुछ लोगों की इच्छा पर छोड़ दिया गया है, किसी जाति, पंथ, सम्प्रदाय, क्षेत्र, भाषा की प्रमुख खलनायक बनाकर आज भारतीय फिल्मों की तरह कहानियां बुनी जाती हैं, आज साहित्य की निश्चित भाषा हो चुकी है सीमाएं हो गई हैं समाज के खालीपन को साहित्य द्वारा न भरकर उसे और विस्तृत आकार दिया जा रहा है।

ज्योतिर्विद सामंत चन्द्रशेखर सिंह का लेख ज्ञानवर्धक था। मनोहर श्याम जोशी हमारे बीच नहीं रहे उनके बारे में प्रसिद्ध लेखिका माजदा असद का संस्मरण अविस्मरणीय है। 'अमर वेदना' युगेश्वर द्वारा प्रस्तुत ललित निबंध में शब्द है, वेदना है, पीड़ा है, उनका सिहांसन और चक्र भी है किंतु स्पन्दन नहीं है

*- राकेश दुबे, सिद्धार्थ नगर*
*(उत्तर-प्रदेश)*

## अनेक जानकारियां

• *आजकल* का अंक देखा अच्छा लगा। नागार्जुन के उपन्यास के बहाने समाज में स्त्रियों की स्थिति का आलोचनात्क विश्लेषण प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने प्रस्तुत किया है। माजदा असद ने मनोहर श्याम जोशी पर अच्छा संस्मरण दिया है महान लेखकों, विचारकों, महापुरुषों, शीर्ष पर पहुंचे व्यक्तियों की जीवनियां भी प्रकाशित की जानी चाहिए।

इस अंक की सबसे बड़ी उपलब्धि मुझे नवीन पंत के दाराशिकोह पर लिखे लेख की लगीं। ऐसा इसलिए क्योंकि ये पात्र जो निहायत प्रासंगिक और जरूरी हैं, सब के सब भुला दिये गए हैं हालांकि यह आलेख विस्तृत रूप में ज्यादा जानकारी नहीं देता फिर भी यह कम नहीं है।

दाराशिकोह पर और शोध सामग्री प्रकाशित करिये। मैंने *राष्ट्रीय सहारा* के 11 जून के अंक में मैनेजर पाण्डेय का एक साक्षात्कार पढ़ा है। जिसमें उन्होंने दारा पर एक पूरी किताब लिखने

की मंशा जाहिर की है, यह पढ़कर मुझे अच्छा लगा भविष्य में उनसे दारा पर लिखवाइयेगा।

प्रसिद्ध तेलुगु साहित्यकार बालशौरि रेड्डी से अनुराग की बातचीत अच्छी लगी खासकर उनका कहना कि लेखक से पहले एक नेक इंसान बनना पसंद करूंगा। गुणाकर मुळे जी के लेख हमेशा शोधपरक रहे हैं। इस अंक में भी उनका लेख अनेक जानकारियां देता है जो अन्यत्र नहीं मिल सकता है।

अंक की कहानियां, कविताए, लेख और साक्षात्कारं हमेशा की तरह अच्छी लगीं। खासकर इमरोज की कविताएं जो *आजकल* मैं पढ़ रहा हूं शायद पहली-पहली बार। पुस्तक समीक्षाएं भी अंक की शोभा बढ़ाती है, पुस्तकों को पढ़ने के लिए पाठक को को प्रेरित करती है।

*- वाई. वेद प्रकाश, इलाहाबाद*

## दाराशिकोह

• जून अंक मिला। इसमें प्रकाशित ललित निबंध 'दाराशिकोह' अच्छा लगा। अपनी तंग जहनियत के चलते ही औरंगजेब इतिहास में बदनाम है। उसने अपने दरबार से संगीतकारों, कवियों, शायरों को भगा दिया था। वैसे वह एक धर्मनिरपेक्ष शासक था। दाराशिकोह समेत उसने कई मुस्लिम विद्वानों को मौत के घाट उतारा।

दाराशिकोह वास्तव में हिंदी, संस्कृत, अरबी और फारसी के प्रकाण्ड विद्वान थे उन जैसे चरित्र इस्लामी इतिहास में दुर्लभ हैं। हमारे ज्योतिषी अगर भविष्य की लगाम पर काबू रख सकते हैं। तो वह आने वाली बाधाओं से देश को सुरक्षित क्यों नहीं रख पाते?

आज के वैज्ञानिक युग में यह सब बातें अंधविश्वास ही लगती हैं, भारत जैसे देश में जहां चालीस प्रतिशत आबादी भी उच्च शिक्षित नहीं है, जनता को भ्रम में रखने का, पैसा बटोरने का यह एक शिगूफा ही लगता है क्या ज्योतिष विधि के विधान को बदल सकता है?

*- इसरार अर्क, जे.पी. नगर (उ.प्र.)*

## अच्छी कविताएं

• जून अंक पढ़ा। इस बार की सारी कविताए मन को छू गई। अंतत: लिखना ही पड़ा। इमरोज, शिवनारायण, देवांशु पाल, सूर्यकांत शर्मा आदि कवियों ने खासतौर से प्रभावित किया।

*बस्ती की औरत से मत पूछो कि,*
*उसकी आंखों के नीचे*
*चमकती बूंदे*
पसीने *की है या आंसू*।

'तेलुगु और हिंदी : मेरे लेखन के दो नयन हैं' शीर्षक से बालशौरि रेड्डी से अनुराग की बातचीत साहित्य की साधना और सिद्धि की बात को स्पष्ट करता है। सचमुच में रेड्डी जी काफी प्रशंसनीय और आदरणीय हैं नई पीढ़ियों के लिए।

संपादकीय में 'ज्योतिष' जैसे विषय पर आपने अच्छा प्रकाश डाला है। इस संदर्भ में गुणाकर मुळे का विशेष आलेख शोधपूर्ण एवं सार्थक लगा।

आलोचना में समीक्षक एवं वरिष्ठ आलोचक मैनेजर पाण्डेय का आलेख 'रतिनाथ की चाची और स्त्री की पराधीनता का प्रश्न' द्वारा नागार्जुन के उपन्यासों में सच और यथार्थ की जिस समाज में शालीनता की चादर से ढंककर अश्लीलता छुपाना ही संस्कृति है। काफी अर्थपूर्ण समकालीन यथार्थ स्पष्ट करने वाला लगा।

*- उमाशंकर राव 'उरेंदु', देवघर (झारखंड)*

## साहित्य, कला और संस्कृति का मिश्रण

• मैं *आजकल* का पंद्रह साल से पाठक हूं। इसके हर अंक की बेसब्री से प्रतीक्षा रहती है। इसमें 'साहित्य, कला और संगीत' का सुन्दर मिश्रण रहता है। सबसे बड़ी बात है *आजकल* में पाठकों की प्रतिक्रिया को आप निष्पक्ष रूप से विशेष स्थान देकर उनके मनोबल को बढ़ाते हैं। यह एक अच्छी बात है। यही कारण है कि दिनोंदिन यह सस्ती सरकारी पत्रिका लोकप्रियता प्राप्त कर देश में साहित्य यज्ञ को बढ़ा रही है।

*आजकल* जून 2006 में समालोचना, कविताएं, ललित निबंध 'अमर वेदना' साक्षात्कार 'तेलुगु और हिंदी मेरे लेखन के दो नयन हैं' स्तरीय रोचक व ज्ञानवर्द्धक थे। इसके लिए *आजकल* परिवार को हार्दिक बधाई व शुभकामनाएं।

*-महेश प्रसाद, लोदी रोड (नई दिल्ली)*

## अच्छी जानकारियां

• *आजकल* का अंक पढ़ा। समालोचना 'रतिनाथ की चाची और स्त्री की पराधीनता' रुचिकर और अच्छी जानकारी से परिपूर्ण तो था ही साथ ही नागार्जुन जी को पढ़ने-समझने हेतु पुन: प्रेरित कर गया। वहीं गुणाकर मुळे के लेख से ज्योतिर्विद सामंत चन्द्रशेखर सिंह के जीवन और वेद्यकार्य की सच्ची और अच्छी जानकारी मिली। अपनी अल्प-आयु और साधन-शून्य परिस्थितियों में भी इन्होंने जिस तरह ज्योतिष सिद्धांतों को खोजने में सफलता पाई वह वंदनीय और अनुकरणीय है। आदमी चाह ले तो क्या नहीं कर सकता? बशर्ते उसमें सच्ची लगन और दृढ़ इच्छा शक्ति हो तो बड़ी-से-बड़ी बाधा को भी पार किया जा सकता है।

कहानी 'सुरुजा, मुलिया और पिल्ले' कारुणिक एवं हृदय विदारक है। देबू और अम्मा के बीच का संवाद 'अगूठी पोटली में गठिया लिए हैं। संग ही में तो रहब जब जरूरत होई लेई लेगा'' एक मां का विश्वास है। वही दूसरी ओर 'तुम चली जाएगी तो पुरखन की धरती अनाथ हो जाउएई अम्मा' वर्तमान संतान का छलपूर्ण दिलासा। यही आज की तस्वीर है। ममत्व पाकर जहां जानवर भी अपना सर्वस्व निछावर करने को आतुर रहते हैं, वहीं आम इंसान मानवता के स्तर से कई गुणा नीचे चले जाते हैं जहां साधारणतया उनकी तुलना जानवर से भी नहीं किया जा सकती।

'इंतजार' कहानी एक ओर मां-बाप अपने बच्चों की खातिर अपने वर्तमान को कष्टमय कर लेते हैं, तो दूसरी तरफ बच्चे बड़े होने पर उन्हें घुटन भरी जिन्दगी जीने को मजबूर कर रहे हैं।

माजदा असद का संस्मरण तथा साक्षात्कार भी संग्रहणीय लगा।

*-ब्रजेशप्रीत, दरभंगा (बिहार)*

## जायकेदार कविताएं

• आज कल औरत को संपूर्णता में समझने की भूल होती रही हैं, यही वजह है कि मानव की जिंदगी और दुनिया अच्छे बदलाव की दिशा में नहीं बढ़ पा रहे हैं।

इमरोज की कविता 'संपूर्ण औरत' इसी पर चिंतित-व्यथित दिखाई देती है और दूसरी कविता बताती है कि 'तराश ही तराश' के जरिए प्यार के रिश्तों में निखार लाकर जिंदगी को जीने लायक बनाया जा सकता है।

जिंदगी के आखिरी पड़ाव पर पश्चाताप की अग्नि में जलाती है शिवनारायण की कविता 'संताप एक वृद्ध विद्वान का' और दूसरी उसकी प्रतिक्रिया में लेती है भूख को पराजित करने का 'संकल्प'।

गांव की बिगड़ी दशा पर सवाल करती है देवांशु पाल की कविता 'तुम निरूत्तर क्यों हो बूढ़े बरगद' और दूसरी 'बस्ती की औरत' की त्रासदी पर सवाल नहीं करने को कहती है।

सूर्यकांत शर्मा की कविता 'बबूल' बोने वालों को कांटों का उपहार देती है। अवध नरेश तिवारी की कविता 'सीख' देती है 'दुख का उपसंहार ज्ञान है' और 'आसक्ति' संन्यास की तरफ बढ़ने से रोकती है। सुभाष वसिष्ट के दो नवगीत के अस्वाद भी जायकेदार हैं। अच्छी कविताएं इस अंक को और भी उत्कृष्ट बना देती हैं। अंक की सभी कविताएं पढ़ने लायक तथा संग्रहणीय हैं।

*- उमेश प्रसाद शर्मा, भागलपुर (बिहार)*

## प्रभावी 'प्रसंगवश'

• *आजकल* के जून अंक के लिए मेरी हार्दिक बधाई। हिंदी कथा-साहित्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर 'नागार्जुन' की रचनाओं से रू-ब-रू होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। 'रति नाथ की चाची' के बहाने समाज में स्त्रियों की स्थिति परिलक्षित होती है।

'मनोहर श्याम जोशी : कुछ यादें, कुछ बातें' शीर्षक पाठ से तुष्टि नहीं हो पाई। विशेषांक निकालें। जून अंक में एक भी कहानी दमदार नहीं हैं। सुरेन्द्र स्निग्ध की 'चुनी हुई अठारह कविताओं के संकलन' से भी अवगत हुआ। संकलन की ये पंक्तियां प्रभावित करती हैं-

*ऐसी जगह क्या रहना / दुख की घड़ियों में / कांई प्यार से सर न सहला दे।*

'प्रसंगवश....' में पत्रिका के प्राण बसते हैं। कहना सत्य है 'सफलता उन्हीं के हाथ लगती है, जो भाग्य का सहारा न लेकर अपने कर्म में विश्वास रखते हैं।'

*- मनानन्द 'हर्ष', पूर्णियां (बिहार)*

## अच्छी कहानियां

• माजदा असद का संस्मरण अच्छा लगा। ममता उपाध्याय तथा नरेन्द्र सक्सेना की कहानी पसंद आयी। बालशौरी रेड्डी से अनुराग की बातचीत ने गहरे तक प्रभावित किया।

शिवनारायण की कविता 'संताप एक वृद्ध विद्वान का' तथा 'संकल्प' की संवेदना मन को छू गई। देवांशु पाल, सूर्यकांत शर्मा एवं सुभाष वसिष्ठ अपनी संवेदनशील रचनाओं के साथ अंक में उपस्थित हैं।

*- रामयतन यादव, पटना (बिहार)*


**आजकल** का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका *---------- का ☐ एक वर्ष (70 रुपये)

☐ दो वर्ष (135 रुपये) ☐ तीन वर्ष (190 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं।

चंदे का रुपये---------- भारतीय पोस्टल आर्डर/ मनीआर्डर / डिमांड ड्राफ्ट सं----------दिनांक--------संलग्न है।

हस्ताक्षर ----------

नाम :----------

पता : ----------

पिन : ☐☐☐☐☐☐

• कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर, *निदेशक, प्रकाशन विभाग* के नाम बनाएं।

• पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

• दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेजी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

*चंदा निम्न पते पर भेजें :*

**विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066**

## इमरोज की कविताएं गहरा प्रभाव डालती हैं

• जून 2006 का *आजकल* अंक पढ़ा। संपादकीय 'प्रसंगवश' के जरिये आपने सही कहा है कि इस वैज्ञानिक युग में भी हमारा जीवन ज्योतिष के भविष्यफल में अटक कर रह जाता है जबकि सफलता उन्हें ही मिलती है जो भाग्य का सहारा नहीं लेकर कार्य में विश्वास करते हैं। बाबा नागार्जुन के उपन्यास *रतिनाथ की चाची* की समीक्षा अच्छी बन पड़ी है। नागार्जुन के इस उपन्यास के माध्यम से मैथिल समाज में व्याप्त विद्रूपताओं की धज्जियां उड़ाती हैं। कहानी 'सुरुजा, मुलिया और पिल्ले' पाठक के मर्म को छूती है। माजदा असद के संस्मरणात्मक आलेख के द्वारा मनोहर श्याम जोशी के संबंध में नयी जानकारियां मिलीं। इमरोज की कवितायें जो स्वर अमृता प्रीतम पर केन्द्रित हैं, गहरा प्रभाव डालती हैं।

*-ध्रुपंताती, सहरसा (बिहार।)*

## सराहनीय कार्य

• *आजकल* जून अंक में प्रकाशित लेख 'मनोहर श्याम जोशी कुछ यादें कुछ बातें' पढ़कर उनके जीवन के अनेक पहलुओं और रचनात्मक उपलब्धियों की जानकारी हुई। दाराशिकोह तथा विलक्षण ज्योर्तिविद सामंत चन्द्रशेखर सिंह और भी उत्कृष्ट लगी। पत्रिका में आजकल के साहित्य लेखकों व शोधों को खगाल कर जिस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है वह अनुपम है।

*-जनमेजय सिंह मेजर, लखनऊ विश्वविद्यालय*

## प्रशंसनीय प्रयास

• *आजकल*, मई 2006, पुस्तक चर्चा अंक के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें। मेरा यह सुझाव है कि साल में कम से कम दो बार ऐसा अंक निकाला जाए जिससे कि महत्वपूर्ण पुस्तकों के बारे में गहरी जानकारी मिल सके। आपका यह सवाल काफी दमदार है कि ऐसा क्या कारण है कि 'हैरी पॉटर' की तरह हाथोंहाथ बिक जाने वाली पुस्तकों में कभी किसी हिंदी लेखक की पुस्तक का नाम नहीं सुनाई पड़ता है?

'नई किताबों, नए विषयों की खोज' में भाई पंकज बिष्ट से विनम्रतापूर्वक जानना चाहूंगा कि आपके पास ऐसी कौन-सी विवशता थी कि आपने कमलेश्वर का प्रसिद्ध उपन्यास *कितने पाकिस्तान* को मूल भाषा में न पढ़कर अंग्रेजी में पढ़ना उचित समझा? यह सवाल मैं काफी सोच-समझकर उठा रहा हूं। अगर यह बात किसी अहिंदी भाषी लेखक ने कही होती तो बात दीगर थी या यह पुस्तक हिंदी में उपलब्ध न होती तो भी बात बन जाती।

'साहित्य की सार्थकता में आस्था जगाने वाली रचनाएं' पर पंकज चौधरी द्वारा प्रस्तुत परिचर्चा अपने आप में प्रशंसनीय प्रयास है। परिचर्चा में एक कमी नजर आती है। वह यह कि इसमें जिन पुस्तकों की चर्चा सुप्रसिद्ध आलोचकों तथा लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने की है, वे पुस्तकें कहां से उपलब्ध हो पाएंगी या कम से कम उक्त पुस्तकें किस प्रकाशन से प्रकाशित हुई हैं, इसका उल्लेख होना चाहिए था, भले ही वह संकेत में ही क्यों न हो। दूसरी बात पुस्तकों के माध्यम का भी कि पुस्तकें किस भाषा में उपलब्ध हैं?

इस परिचर्चा का अंतिम हस्ताक्षर समकालीन भारतीय साहित्य के संपादक तथा वरिष्ठ कथाशिल्पी अरुण प्रकाश हैं। जिनके साथ आपने न्याय नहीं किया है। उनके वक्तव्य को आपने आधा-अधूरा ही प्रकाशित किया है, जिससे यह परिचर्चा असंगत लगती है। इसे मात्र मुद्रण की भूल 'समझकर अनदेखा करना, विवेकपूर्ण नहीं होगा। मुझे विश्वास है, अगले अंक में आप इसकी भरपाई करेंगे।

उर्दू जुबान की गंगा-जमुनी तहजीब से भरी 'उर्दू पर खुलता दरीचा' के बारे में ज्ञानप्रकाश विवेक ने इतनी समृद्ध जानकारी दी है कि इच्छा होती है कि प्रो. गोपीचंद नारंग की इस पुस्तक से रू-ब-रू हुआ जाए। लेकिन जब उसके मूल्य पर नजर पड़ती है तो कदम आहिस्ता-आहिस्ता पीछे हटने लगते हैं।

'वो गुजरा जमाना' स्टीफन स्वाइंग की आत्मकथा के बारे में प्रेमपाल शर्मा का यह कथन काबिले-तारीफ है कि इस अनुवाद को पढ़कर कोई नहीं जान पायेगा कि स्टीफन स्वाइंग जर्मन लेखक था। लगेगा कि भले ही जर्मन होगा, 'आत्मकथा' तो उसने हिंदी में ही लिखी है।

*- सिद्धनाथ सागर, भोजपुर, (बिहार)*

## भूल-सुधार

• *आजकल* के अगस्त 2006 अंक में डॉ. खगेन्द्र ठाकुर के आलेख 'स्वतंत्रता की काव्यात्मक चिनगारी' में प्रूफ की अशुद्धियां रह गई हैं जिसके लिए हमें खेद है। पृष्ठ 9 में छठे पैरे में *'मेरी सब यौन व्यथाएं'* के स्थान पर कृपया *'मेरी सब मौन व्यथाएं'* पढ़ें।

इस प्रकार नौवें पैरे में *'वह तड़प नग्में में कहां...'* के स्थान पर *'वो तड़प नग्मे में कहां / जो शिकस्ते दिल में है'* पढ़ा जाए।

**-संपादक**

## हिंदी कहानीकारों से अनुरोध

• कोच्चि (केरल) स्थित कोच्चिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय में इन दिनों समकालीन हिंदी और मलयालम कहानियों में रचनात्मक प्रगति के बारे में तुलनात्मक अध्ययन विषय पर शोध कार्य चल रहा है। हिंदी कहानीकारों के सृजनात्मक सहयोग के बिना इस कार्य की प्रगति संभव नहीं है। कहानीकारों से अनुरोध है कि वे ऐसी एक-दो कहानियों की फोटो प्रति अपनी सृजनात्मकता संबंधी टिप्पणी के साथ डॉक्टर एम. षण्मुखन (प्रिंसिपल इनवेस्टिगेटर) के निम्न पते पर भेजें।

*डॉ. एम. षण्मुखन, प्रिंसिपल इनवेस्टिगेटर, एम.आर.पी., 'कुसाट' कोच्चिन विश्वविद्यालय (पोस्ट), कोच्चि-682 002, केरल*

# उत्तर आधुनिकतावाद की बुनियादी बहस मार्क्सवाद से है

— मैनेजर पाण्डेय

*समकालीन हिंदी आलोचना में प्रो. मैनेजर पाण्डेय का महत्वपूर्ण स्थान है। गोपालगंज (बिहार) के एक गांव में 23 सितंबर, 1941 को जन्मे प्रोफेसर पाण्डेय ने अपने वैचारिक लेखन और बहसों के माध्यम से हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना और रचनात्मक लेखन को एक नया मुकाम दिया है। 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य', 'शब्द और कर्म', 'साहित्य और इतिहास दृष्टि', 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', 'संकट के बावजूद' और 'अनभै सांचा' आदि उनकी चर्चित किताबें हैं।*

*पिछले दिनों समकालीन आलोचना और विचारधारा को लेकर उनसे युवा आलोचक और कथाकार देवेंद्र चौबे ने बातचीत की।*

*प्रस्तुत है, इस लंबी बातचीत के महत्वपूर्ण अंश :*

प्रश्न : **डा. साहब हमलोग चाहते हैं कि बातचीत जॉक देरिदा से ही शुरू की जाए। वे कहते हैं कि इतिहास एक पाठ है, उसका कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है। देरिदा की इस धारणा के आलोचक में उत्तर आधुनिकतावाद के बारे में आप क्या सोचते हैं?**

**उत्तर** : देखिए, देरिदा खुद को उत्तर आधुनिक नहीं मानते और वैसे भी उत्तर आधुनिकतावाद का कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं है। उत्तर आधुनिकतावाद के बहुत सारे विचारक या कहिए कि जिनको उत्तर आधुनिकतावाद का विचारक माना जाता है, उनमें से अनेक लोगों ने यह स्वीकार किया है कि हम उत्तर आधुनिकतावादी नहीं हैं। इसलिए देरिदा के इस कथन को उत्तर आधुनिकतावादी कथन नहीं माना जा सकता। इस कथन की अलग से व्याख्या और उस पर बात की जाए यह समझ में आता है।

आपके सवाल से एक बात यह भी जुड़ी हुई है कि जैसे देरिदा के इस कथन में सबसे अधिक महत्व अनिश्चितता को दिया गया है कि पाठ का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता, उसी तरह उत्तर आधुनिकतावाद की अधिकांश स्थापनाओं के बारे में यह कहा जा सकता है कि उनका भी कोई निश्चित अर्थ नहीं है। इसलिए उत्तर आधुनिकतावाद की तरह-तरह की व्याख्याएं प्रचलित हुई हैं बल्कि मैं अतिरंजना का खतरा उठाते हुए कह सकता हूं कि उत्तर आधुनिकता के बारे में जितने मुंह उतनी बातें सुनाई पड़ती हैं। अब रही बात जॉक देरिदा के उस कथन की तो उस कथन को दो-तीन संदर्भों में समझने की जरूरत है।

पाठ के रूप में अब तक हम लोग लिखित पाठ जानते हैं और दर्शन के प्रसंग में यह परंपरा लंबे काल से बनी हुई है कि पुराने पाठों की नई व्याख्या करते हुए नई दार्शनिक दृष्टि का विकास होता रहा है, और मेरा ख्याल है कि जॉक देरिदा की मान्यता के मूल में दर्शन की यह परंपरा मौजूद है। पाठ का दूसरा रूप साहित्यिक कृतियों में दिखाई देता है।

उत्तर आधुनिकतावादी लेखक को महत्व नहीं देते। स्वयं दो विचारकों रोलाबार्थ और फूको ने लेखक के बदले पाठ को महत्व दिया है। रोलाबार्थ का तो यह कथन ही है कि "लेखक की मृत्यु की कीमत पर ही पाठ और पाठक का महत्व स्थापित हो सकता है।" तब पाठ से पाठक का संबंध ही आलोचना का केंद्रीय तत्व होगा, पाठ से लेखक का नहीं। ऐसी स्थिति में, पाठक बदलते रहते हैं। हर युग के नए पाठक पुरानी रचनाओं का, पुराने पाठों का नया अर्थ करते हैं। इसलिए जॉक देरिदा के इस कथन का एक अभिप्राय साहित्यिक पाठों के अर्थ की अनेकता भी है। आगे एक और स्तर पर इस बात को देखा जा सकता है।

सबसे अधिक परेशानी यह है कि जॉक देरिदा सब कुछ को पाठ मानते हैं। जब वे कहते हैं कि 'नथिंग इज आउटसाइड टेक्सट और वियांड टेक्सट' तो इसका मतलब है कि संसार की घटनाएं, स्थितियां ये सब पाठ हैं। अब यहीं से खतरनाक अर्थ की शुरूआत होती है। उनके अनुसार हम मान लें कि इराक पर अमरीकी हमले की घटना एक पाठ है तो इतनी दूर तक तो सही होगा कि उसका एक अर्थ जॉर्ज बुश अपना लगाते हैं और दूसरा अर्थ इराक की जनता लगाती है, और दोनों अर्थों की टकराहट हो रही है इतिहास की प्रक्रिया में। पर सवाल यह है कि उन दोनों से बाहर बैठे एक व्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि वह दोनों में से किसी एक अर्थ को स्वीकार करे, क्योंकि यह कहना काफी नहीं होगा कि इस घटना रूपी पाठ के दो अर्थ हैं, बल्कि दो अर्थ कहने का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए बाहर बैठे आदमी को बताना ही पड़ेगा कि वह किस अर्थ को सही समझता है। इसलिए जॉक देरिदा के इस कथन में अर्थ की अनिश्चितता के साथ-साथ विचारक की नैतिक स्थिति की भी अनिश्चितता है और ऐसी स्थिति में अर्थ का अनर्थ होने लगता है।

मान लीजिए कि हम बाबरी मस्जिद के ध्वंस को भी एक घटना और पाठ के रूप में देखें तो उसका एक अर्थ हिन्दुवादी लोग करते हैं, दूसरा अर्थ मुसलमान करते हैं और तीसरा अर्थ इस देश के लोकतांत्रिक चाहने वाले करते हैं और यह कहना कि तीनों अर्थ बराबर सही हैं, कुछ भी कहना नहीं है, बल्कि अपनी नैतिक जिम्मेदारी से बचना है। इसलिए जॉक देरिदा के पाठ में फिसलन की संभावना बहुत अधिक है और इस तरह के मुहावरेदार वाक्यों के ऐसे ही खतरे हुआ करते हैं।

**आज भारत में विचारधाराओं को लेकर जो सारी बहसें हो रही हैं उनमें उत्तर आधुनिकतावाद से संबंधित बहस को आप किस रूप में देखते हैं?**

जहां तक मुझे मालूम है कि हिंदुस्तान की बहुत सारी भाषाओं में उत्तर आधुनिकता के बारे में बातें हो रही हैं, बहसें हो रही हैं, हम उनको नहीं जानते, आप भी नहीं जानते। दो भाषाएं ऐसी हैं जिनमें होने वाली बहसों से हम परिचित हैं, एक हिंदी दूसरी भाषा है अंग्रेजी। अंग्रेजी में उत्तर आधुनिकतावाद से संबंधित जो बहसें हैं वह पश्चिम में होने वाली बहसों का विस्तार हैं। मुझे हिंदुस्तान के किसी अंग्रेजी लेखक की ऐसी किताब या ऐसा लेख पढ़ने को नहीं मिला है जो उत्तर आधुनिकतावाद के बारे में कोई नई बात कहता हो। हिंदी में उत्तर आधुनिकता पर जो बहस है वह और भी खराब स्तर की है।

हिंदी में उत्तर आधुनिकता पर कोई गंभीर बहस ही नहीं हुई है, बल्कि मैं तो अभी यही कह सकता हूं कि हिंदी में उत्तर आधुनिकतावाद के बारे में जो कुछ लिखा गया है वह बहुत कुछ पश्चिम में और वह भी अंग्रेजी के माध्यम से उत्तर आधुनिकतावाद के बारे में जो बातें कही गई हैं उनकी पुनर्प्रस्तुति ही हिंदी में हुई है। मतलब हिंदी में जो उत्तर आधुनिकतावाद पर लिखने वाले हैं उनमें सबसे अधिक तो सुधीश पचौरी ही लिखते रहे हैं और जाहिर है कि वे काफी उत्तर आधुनिकतावादी भाषा में उत्तर आधुनिकतावाद पर लिखते हैं। इसलिए उनके लेखन से भी उत्तर आधुनिकतावाद का कोई स्वरूप लोगों के सामने स्पष्ट हुआ हो, ऐसा नहीं है। हां, इस बहस के प्रसंग में मैं जरूर कहूंगा कि उत्तर आधुनिकतावाद की बुनियादी बहस मार्क्सवाद से है।

अपने यहां मार्क्सवादियों ने भी उत्तर आधुनिकतावाद से पैदा हुए सवालों का कोई बहुत अच्छा उत्तर दिया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। मेरी अपनी जानकारी में दो लोग हैं- एक तो प्रो. रणधीर सिंह और दूसरे एजाज अहमद, जिन्होंने उत्तर आधुनिकतावाद पर गंभीरता से बहस करने की कोशिश की है। मार्क्सवाद की ओर से बहस करने की कोशिश की है। इसलिए मैं कहूंगा कि अभी उत्तर आधुनिकतावाद को ठीक से समझने-समझाने की जरूरत हिंदी में बनी हुई है। मैं विचार और आलोचना के प्रसंग में इस धारणा को महत्व देता हूं कि किसी भी विचारधारा को अस्वीकार करने से बेहतर है उसको गलत साबित करना अगर आपको वह गलत लगता है तो क्योंकि अस्वीकार करने में कुछ बौद्धिक प्रयास नहीं लगता, गलत साबित करने में बौद्धिक प्रयास की जरूरत होती है। इसलिए हिंदी में उत्साही मार्क्सवादियों ने उत्तर आधुनिकतावाद को अस्वीकार करने का काम बहुत अधिक किया है और उसे गलत साबित करने का काम बहुत कम।

**उत्तर आधुनिकतावाद के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि इससे स्थानीय स्वायत्तता और विकेंद्रीकरण की जमीन मजबूत हुई है और उत्तर उपनिवेशवादी साहित्य, तीसरी दुनिया का साहित्य, नारी एवं अश्वेत लेखन, दलित साहित्य आदि केंद्र में आए हैं। आप इस तर्क से कहां तक सहमत हैं?**

एक बात तो यह है कि हिंदी में या सारी दुनिया में आपने जिन तीन समस्याओं की चर्चा की है, उन तीन समस्याओं पर गंभीर बहसें उत्तर आधुनिकतावाद के आने के बहुत पहले से चल रही हैं। मतलब स्त्री की स्वाधीनता और पराधीनता के प्रश्न पर बहस, भारतीय समाज के प्रसंग में दलितों की पराधीनता और स्वाधीनता पर बहस या फिर उसी से जुड़ा हुआ दलित साहित्य का प्रश्न और इसके साथ ही केंद्र बनाम हाशिए का द्वंद्व, इन सब पर बहसें उत्तर आधुनिकतावाद के आने के बहुत पहले से चल रही हैं।

बात यह है कि उत्तर आधुनिकतावाद केवल शब्द नहीं, बल्कि एक विचार प्रक्रिया के रूप में इतिहास पर आप ध्यान दें तो मालूम होगा कि कुल

मिलाकर 1980 के आस-पास इसकी शुरुआत होती है। थोड़ा पहले आप इसमें फूको को जोड़कर देखें तो थोड़ा और पीछे जाएंगे 70 के दशक में, अन्यथा सब लोग जानते हैं कि उत्तर आधुनिकता को एक विचारधारा के रूप में स्थापित करने का फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक लियोतार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Post modern condition (उत्तर आधुनिक स्थितियां) के माध्यम से की थी। लेकिन स्त्रियों की स्वाधीनता के प्रश्न पर हम सारी दुनिया को छोड़ भी दें तो हिंदी में 40 के दशक से बहस चल रही है, कम या ज्यादा।

महादेवी वर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक *शृंखला की कड़ियां* सन् पैंतीस के आस-पास उनके लिखे निबंधों का ऐसा संकलन है जो पुस्तकाकार सन् बयालिस में छपा। मतलब हिंदी में और हिंदुस्तान में स्त्रियों की स्वाधीनता का सवाल देश की स्वाधीनता के सवाल से जुड़ा हुआ दिखाई देता है और उसके बाद आप देख सकते हैं हिंदी में स्त्रियों की स्वाधीनता का एक बड़ा प्रभाव उनकी स्वतंत्र रचनाशीलता में दिखाई पड़ता है। हिंदी साहित्य में स्त्रियों की रचनाशीलता का इतिहास भी छिट-पुट ही सही बहुत पुराना है। लेकिन व्यवस्थित रूप से उसकी शुरूआत नई कविता, नई कहानी के दौर से दिखाई देती है।

अब रही बात दलित साहित्य की, तो देखिए हिंदी में दलित साहित्य बाद में आया पर मराठी में दलित साहित्य उत्तर आधुनिकतावाद के बहुत पहले से स्थिर और स्थापित धारा के रूप में मौजूद है और हिंदी के दलित लेखक उत्तर आधुनिकता से जितना परिचित, प्रेरित और प्रभावित हैं, उससे बहुत अधिक वह मराठी के दलित लेखन से परिचित, प्रेरित और प्रभावित है। रही बात केन्द्र और हाशिए के द्वन्द्व का, तो बहुत पहले बीसवीं सदी के दूसरे या तीसरे दशक की बात होगी, डब्ल्यू. बी. यीट्स की बहुत ही प्रसिद्ध कविता है, जिसमें ये वाक्य आता है कि "Centre cann't hold" मतलब 'अब केन्द्र चीजों को संभाल नहीं सकता।'

केन्द्र और हाशिए की बहस स्वयं आधुनिकतावादी विचार और रचनाशीलता में मौजूद रही है, इसलिए यह कहना कि उत्तर आधुनिकतावाद के कारण स्त्रियों की स्वाधीनता, दलित लेखन या केन्द्र और हाशिए पर बहस की शुरूआत हुई, उससे कोई दिशा मिली है मुझे एकदम ठीक नहीं लगता। हां, यह जरूर कहूंगा कि उत्तर आधुनिकतावादी चिन्तन ने इन तीन प्रसंगों में थोड़ी मदद की है, क्योंकि पहले के दिनों में ये सब विवाद के विषय थे। उत्तर आधुनिकतावाद ने इन सबके महत्त्व को नए रूप में स्थापित करने में मदद की है। इसलिए व्यक्ति की स्वायत्तता समुदायों की स्वतंत्रता और समाज में हाशिए पर रहने वाले लोगों की ताकत का अहसास, यह उत्तर आधुकितावाद की मदद से बेहतर रूप में समझा गया है। इसलिए मैं यह जरूर कहूंगा कि ये सारी बहसें पुरानी हैं, पर उत्तर आधुनिकतावाद ने इन बहसों को नई धार देने में मदद की है।

**मार्क्सवादी चिंतन का आधार आर्थिक विश्लेषण था। उत्तर आधुनिकतावाद आर्थिक पक्ष के प्रति उदासीन है। क्या यह सही नहीं है कि आर्थिक पक्ष के प्रति उदासीनता के कारण ही मार्क्सवादी विचारक उत्तर आधुनिकतावाद की आलोचना करते हैं?**

हां, यह बात सही है। देखिये उत्तर आधुनिकतावाद असल में सामाजिक संरचना को महत्व नहीं देता और इसीलिये वह वर्ग को भी महत्व नहीं देता। मुझे तो लगता है कि यह उत्तर आधुनिकतावाद का एक अन्तर्विरोध है कि आप सुबह से शाम तक हाशिये के लोगों की बात तो करें, पर सर्वहारा की बात आते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगें। स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था के हाशिये पर रहता है सर्वहारा वर्ग। लेकिन मार्क्सवादियों ने जब उत्तर आधुनिकतावाद की आलोचना की है तो इसलिए भी की है कि उत्तर आधुनिकतावादी सामाजिक, राजनैतिक द्वन्द्व, संघर्ष और किसी भी तरह के मुक्ति के प्रयास को महत्व नहीं देते। वे बल्कि अधिक से अधिक द्वन्द्व को विचार के स्तर पर स्वीकार करते हैं; बहस के स्तर पर उसको मानते हैं, लेकिन सामाजिक व्यवहार में भी उसको लागू करना जरूरी है यह वे स्वीकार नहीं करते। और तब मुझे वाल्टर बेंजामिन का यह कथन याद पड़ता है कि "पूंजीवाद और सर्वहारा के बीच लड़ाई विचारकों के दिमाग में नहीं, समाज में होती है।"

पर समाज में जो लड़ाई होती है वह लड़ाई किसी भी तरह से उत्तर आधुनिकतावादियों को स्वीकार नहीं। मुझे फूको का एक साक्षात्कार याद पड़ रहा है जिसमें उन्होंने कहा था कि "एक स्तर पर हम सब लोग आंतरिक द्वन्द्व से गुजरते हैं।" अब दिमाग के भीतर द्वन्द्व हो यह वे मानते हैं, लेकिन समाज में वह द्वन्द्व हो और निर्णायक दौड़ तक पहुंचे यह उनके महत्व की बात नहीं है। वे यह बात पहली बार नहीं कह रहे हैं। बहुत पहले जयशंकर प्रसाद *कामायनी* में यह कह चुके हैं कि-

*देवों की विजय दानवों की*
*हारों का होता युद्ध रहा*
*संघर्ष सदा उर अंतर में*
*जीवित यह नित्य विरुद्ध रहा।*

मतलब यह कि मनुष्य की चेतना के भीतर अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों, जिसको वे दैवी और आसुरी प्रवृत्तियां कहते हैं, उनके बीच द्वन्द्व चलता ही रहता है।

जयशंकर प्रसाद के इस कथन के लगभग 50-60 साल बाद बहुत नई बात की तरह जो फूको ने कहा वह वही है जो जयशंकर प्रसाद कह चुके हैं। इसलिए मार्क्सवादी जब उत्तर आधुनिकतावाद का विरोध करते हैं तो इसलिए भी कि उत्तर आधुनिकतावादी मुक्ति को किसी धारणा और कोशिश को महत्व नहीं देते।

उत्तर आधुनिकतावादी दिमागी गुलामी की बात करते हैं पर सामाजिक और राजनीतिक गुलामी की बात नहीं करते और उस तरह की गुलामी से छुटकारा पाने के लिए जो संघर्ष है उसको भी महत्व नहीं देते। इसलिए बहुत लोगों का ख्याल है कि उत्तर आधुनिकतावाद ने एक तरह से संघर्षशील चेतना को लकवाग्रस्त करने का प्रयास किया है कि हर चीज केवल बौद्धिक बहस तक सीमित रह जाए। समाज में जो संघर्ष और द्वन्द्व है, वह केवल बौद्धिक बहसों से हल नहीं होंगे।

**उत्तर आधुनिकतावादी मजदूरी को सेवा का नाम देते हैं, इस पर आपकी कोई टिपण्णी....।**

फ्रांस के एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री थे। अभी उनकी मृत्यु हुई है। उन्होंने कहा है कि पंडिताऊ शास्त्रार्थ की प्रवृत्ति उत्तर आधुनिकतावाद में दिखाई देती है। मतलब यह कि मजदूरी को सेवा कहना, उसमें से शोषण के बोध को गायब करना। शोषण का बोध नहीं होगा तो संघर्ष की संभावना भी नहीं होगी। इसलिए मैं बार-बार कहा करता हूं कि उत्तर आधुनिकतावाद असल में पूंजीवाद के वर्तमान दौड़ की रक्षा करने वाली विचारधारा है।

**उत्तर आधुनिकतावादी कहते हैं कि सर्वहारा वर्ग खत्म हो गया, वे सब मध्य वर्ग में शामिल हो गए हैं। उनकी इस मान्यता पर आपका क्या सोचना है?**

मतलब सपने में ऐसा हो गया होगा। सपनों पर तो मेरा नियंत्रण नहीं है...। जाकर पूछना चाहिए कि भारत जैसे देश में जहां लाखों मजदूर बेकार हैं और दस हजार से अधिक किसानों ने आत्महत्या कर ली है, ये जीवन से मुक्त होकर मध्यवर्ग में शामिल हुए हैं क्या? इस मूर्खतापूर्ण मान्यता पर मैं क्या कह सकता हूं। आप उन किसानों से जाकर... अब तो खैर कैसे पूछेंगे आप, जिन्होंने आत्महत्या कर ली। उनके घर-परिवार के लोग बता सकते हैं कि वे मध्यवर्ग में शामिल हुए हैं या प्रेतों में शामिल हो गए हैं। यह बहुत ही भ्रामक, मैं कह सकता हूं कि छल-छद्म से भरी हुई बातें हैं।

**हिंदी आलोचना में एक दौर ऐसा था जब आधुनिकता और आधुनिकतावाद की चर्चा थी। आज उत्तर आधुनिकतावाद की यह यात्रा साहित्य और समाज की वास्तविकताओं से कितनी जुड़ी है?**

यह तो मैं मान सकता हूं कि आजकल हिंदी आलोचना में उत्तर आधुनिकतावाद की चर्चा बहुत है लेकिन मेरी जानकारी में हिंदी में कोई उत्तर आधुनिकतावादी आलोचक नहीं है, मैं सुधीश पचौरी को याद करते हुए यह बात कहना चाहता हूं। उसका एक कारण है कि उत्तर आधुनिकतावादी रचनाशीलता भी हिंदी में अभी उस तरह से विकसित नहीं हुई है जिसकी उत्तर आधुनिकतावादी औजारों से ही व्याख्या करने की जरूरत बनती हो। इसलिए यह पूरी बहस ठोस आलोचना होने के बदले केवल विचार के स्तर पर मौजूद है। लेकिन आधुनिकता और आधुनिकतावाद से संबंधित जो बहस थी वह गहरे स्तर पर आलोचनात्मक बहस थी क्योंकि आधुनिक रचनाशीलता और आधुनिकतावादी रचनाशीलता के विकास के साथ-साथ आधुनिक और आधुनिकतावादी आलोचना का भी विकास हुआ है। हिंदी में उसका क्षेत्र बहुत लंबा है। आप उसको आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर नामवर सिंह तक में देख सकते हैं।

और देखिये जब आधुनिक कहा जाता है तो मैं मार्क्सवाद को आधुनिकता का ही एक रूप समझता हूं। यद्यपि तब मार्क्सवादियों ने आधुनिकतावाद का विरोध किया लेकिन आधुनिक और आधुनिकतावाद में फर्क करने की जरूरत है। मैं इसलिए आधुनिक विचारधाराओं के अंतर्गत मार्क्सवाद को रखता हूं, आधुनिकतावाद को इससे अलग रखता हूं जैसी रचनाशीलता आधुनिकता और आधुनिकतावाद के साथ हिंदी में विकसित थी, वैसी रचनाशीलता और आलोचना अभी उत्तर आधुनिकतावाद से प्रेरित प्रभावित होकर हिंदी में विकसित नहीं हुई है।

**आपने एक साक्षात्कार में कहा है कि 'आलोचक को कोई वाद वहीं तक मदद कर सकता है, जहां तक वह रचना की अर्थवत्ता और सार्थकता समझने में सहायक हो'। उत्तर आधुनिकतावाद के संदर्भ में यह बात कहां तक सच है?**

देखिये, उत्तर आधुनिकतावाद के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि यह हवा में तैरते विचारों को पकड़कर अपना व्यवसाय चलाने की कोशिश है। यह ठीक है कि मार्क्सवाद से या मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि से आप पुराने साहित्य की भी व्याख्या कर सकते हैं। लोगों ने कालिदास से लेकर भक्तिकाल होते हुए छायावाद तक की व्याख्या मार्क्सवादी दृष्टि से की है। मार्क्सवादी दृष्टि से गैर मार्क्सवादी रचनाओं की व्याख्या करना जिस तरह संभव है उसी तरह उत्तरआधुनिक दृष्टि से गैर उत्तर आधुनिकतावादी और पुरानी रचनाओं की व्याख्या करना भी संभव है। लेकिन यह तभी संभव होगा जब पहले उत्तरआधुनिकतावादी की व्यवस्थित समझ विकसित हो। मेरी चिंता और शिकायत यह है कि अभी हिंदी में उत्तर आधुनिकतावाद की व्यवस्थित समझ ही पैदा नहीं हुई है।

उत्तर आधुनिकतावाद की एक स्थापना यह है कि (साहित्य के प्रसंग में) शास्त्रीय और लौकिक के बीच कोई फर्क नहीं है। मतलब क्लासिकल और फोक के बीच कोई अंतर नही है। अगर आप इसको रचना के स्तर (शास्त्र) पर देखना चाहें तो नागार्जुन की 'मंत्र' कविता में इसको देखा जा सकता है। बाबा ने लौकिक और शास्त्रीय दोनों को मिलाने की कोशिश की है और बहुत सफल कोशिश की है। इस कोशिश के माध्यम से उन्होंने धारदार राजनीतिक समझ की कविता लिखी है 'मंत्र'। अब कोई चाहे और उत्तर आधुनिकतावाद के भीतर लौकिक और शास्त्रीय का द्वंद्व और दोनों की एकता की जटिलता को समझता हो तो वह नागार्जुन की इस कविता की ठीक से व्याख्या कर सकता है। लेकिन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए उत्तर आधुनिकतावाद को एक मुहावरे के रूप में अपनाते जाने से हिंदी आलोचना का कोई ज्यादा भला होनेवाला नहीं है।

**एक समय में मार्क्सवादी विचारधारा ने हिंदी साहित्य की दिशा और दशा बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। क्या आपको लगता है कि उत्तर आधुनिकतावाद वही भूमिका निभा पाएगा?**

ऐसा है कि मार्क्सवादी आलोचना ने हिंदी आलोचना और हिंदी साहित्य की दिशा बदलने में जो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी उसका एक कारण यह भी था कि मार्क्सवादी आलोचना केवल साहित्यिक दृष्टिकोण नहीं है। वह एक साथ साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण है। और इस व्यापक दृष्टि के तहत मार्क्सवादी आलोचना ने हिंदी साहित्य में हस्तक्षेप किया और उसकी दिशा बदलने में एक भूमिका निभाई। उत्तर आधुनिकतावाद इस तरह की समग्रता को स्वीकार नहीं करता। दूसरी बात यह भी है कि मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि का विकास आपने देश में जनसंघर्षों की लंबी परंपरा से जुड़कर हुआ था और उसी प्रकार की रचनाशीलता भी विकसित हुई थी। हिंदी में अभी उत्तर आधुनिकतावादी रचनाशीलता का ठीक से विकास नहीं है। मैंने नागार्जुन की एक कविता का उल्लेख किया है। यद्यपि यह कविता लिखते समय नागार्जुन ने किसी उत्तर आधुनिकतावाद को ध्यान में नहीं रखा था और वे जानते भी नहीं थे कि उत्तर आधुनिकतावाद क्या है।

सजग रूप से उत्तर आधुनिकतावादी लेखक हिंदी में मेरी जानकारी में एक ही हैं। वे हैं मनोहर श्याम जोशी, जो घोषित रूप से अपने उपन्यासों को उत्तर आधुनिकतावादी मानते हैं और स्वीकार भी करते हैं। असल में जब तक हिंदी में उत्तर आधुनिकतावादी रचनाशीलता का विकास नहीं होगा तब तक उत्तरआधुनिकतावादी आलोचना भी ठीक से विकसित नहीं होगी। इसलिए मैं सारांश के रूप में कहूं तो उत्तर आधुनिकतावादी आलोचना दृष्टि महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। यद्यपि वह मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि का स्थापन कभी नहीं बनेगी। लेकिन उसकी एक भूमिका हो सकती है, बशर्ते कि एक तो स्वयं उत्तर आधुनिकतावाद की शक्ति और सीमाओं का स्पष्ट बोध हो और दूसरी उत्तर आधुनिकतावादी रचनाशीलता का भी विकास हो और तीसरे, इन दोनों के बीच एक द्वंद्वात्मक संबंध का निर्माण हो। □

# शैलीकार : कन्हैयालाल मिश्र

***मिश्र जी बादशाह दिल आदमी थे / उनका समूचा व्यक्तित्व 'कंजूसी' शब्द का विलोम है / कहीं झिझक नहीं, अटक नहीं, सीमा भी नहीं / निर्बाध, निरसीम, विशाल और विपुल 'यो वै भूमा तत्सुखम्', भूमा में यानी विपुलता–विशालता में ही सुख है, अल्प में नहीं / कन्हैयालाल मिश्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर* विष्णु प्रभाकर**

उस दिन अचानक किसी काम से मुज्जफरनगर जाना हुआ ध्यान आया सहारनपुर यहां से बहुत दूर नहीं है। वहीं रहते हैं कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर। उनके प्रति मेरे मन में एक अनोखा आकर्षण था। उनका व्यक्तित्व अत्यंत विवादास्पद रहा है। विवादास्पद होना व्यक्ति के लिए जितना हानिकारक हो सकता है उससे कहीं अधिक वह उसकी शक्ति का परिचायक होता है। ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति हमेशा आकर्षण का केंद्र रहते हैं इसलिए मैं उनसे मिलने सहारनपुर चला गया। मुझे अचानक इस प्रकार अपने सामने देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, बोले, ''कैसे आना हुआ?''

मैंने सहज भाव से उत्तर दिया, ''मुज्जफरनगर आया था सोचा आपसे भी मिलता चलूं।''

और मिश्र जी ने अविश्वास से मेरी ओर देखते हुए कहा था, ''बस, मिलने के लिए ही मेरे पास आए हैं, आप।''

उसके बाद वह ऐसे अभिभूत हुए कि मैं चकित विस्मित उन्हें देखता ही रह गया, आतिथ्य की कोई सीमा नहीं, वैसी निश्छल आत्मीयता के लिए आज भी तरसता हूं। वह स्टेशन तक छोड़ने आए, मार्ग में मेरे लिए सहारनपुर के मशहूर पौंडे खरीदे। उसी ट्रेन से उनके कोई परिचित भी जा रहे थे, उनसे कहा कि वे रास्ते में मेरा ध्यान रखें। जैसे कि मैं कोई नन्हा-सा नादान बालक हूं लेकिन क्या बिना बालक हुए हमें किसी का प्रेम मिलता है?

तब वह 'भारतीय ज्ञानपीठ' के साथ घनिष्ठ थे। मेरा कहानी संग्रह *संग्रह के बाद* वहीं से प्रकाशित हुआ था और उन्हीं की प्रेरणा से और उन्हीं की देखरेख में प्रकाशित हुआ था। उनके कहने पर ज्ञानपीठ की संचालिका श्रीमती रमा जैन ने स्वयं एक-एक कहानी पढ़कर उस पर टिप्पणी लिखी थी। मिश्र जी ने मुझे लिखा था, ''संग्रह प्रेस में जा रहा है, एक बार फिर देख लीजिए कहानियों को, फिर उसके बाद अवसर नहीं मिलेगा। ये कहानियां जनता की सम्पत्ति बन जाएगी।''

इतनी सतर्कता क्या आज संभव है? किसके पास इतना समय है और किसमें अपनी रचना के प्रति इतनी ममता है। ये सब बातें मैंने मिश्र जी से ही सीखी थीं।

एक और घटना याद आ रही है। मिश्र जी संस्मरण लेखक होने के अतिरिक्त प्रखर पत्रकार भी थे। कहीं भी अन्याय देखकर वह अग्निशर्मा हो उठते थे, सतर्क रहने पर भी वह कभी-कभी किसी व्यक्ति के बारे में गलत राय बना लेते थे। न जाने वह कौन-सा प्रसंग था, उन्होंने 'सस्ता साहित्य मंडल' के तत्कालीन मंत्री सरल प्राण और सौम्यदर्शन श्री मार्तण्ड उपाध्याय को 'मारदण्ड' नीति का उपासक लिख दिया था। तब तक मेरे संबंध उनसे काफी घनिष्ट हो चुके थे। मैंने उस घटना की वास्तविकता से उन्हें परिचित करवाया और लिखा, ''आप न जाने क्यों इतने कटु हो उठे हैं। आपसे अन्याय हो गया है।''

सत्य के लिए जो व्यक्ति प्रखर होता है वह उतना ही विनम्र भी होता है। उन्होंने तुरंत अपनी स्थिति स्पष्ट की और माना कि सचमुच उनसे गलती हो गई है उन्हें क्षमा मांगने में जरा भी संकोच नहीं हुआ। वह स्वयं 'सस्ता साहित्य मंडल' के कार्यालय में दिल्ली आए थे। मार्तण्ड जी से अपने उस लेख के लिए खेद प्रकट किया था।

ऐसा साहस भी अब विरल होता जा रहा है। जहां तक मुझे याद है उनसे मेरा प्रथम परिचय सन् 1944 के अंत में हुआ था। गुप्तचर विभाग के आदेश पर मैं नौकरी से त्यागपत्र देकर पंजाब से दिल्ली आ गया था और बंधुवर गोपाल प्रसाद व्यास के साथ मिलकर मथुरा के ब्रज साहित्य मंडल का दूसरा अधिवेशन दिल्ली में करने की योजना बना रहा था। लेकिन प्रश्न तो पैसे का था। इसी प्रसंग में मैं एक दिन व्यास जी के साथ चर्चा करता हुआ कहीं जा रहा था कि अचानक पीछे से आवाज आई, ''पैसे की चिंता मत कीजिए, मैं प्रबंध करूंगा आप अधिवेशन की योजना बनाइए।''

हठात् मैंने पीछे मुड़कर देखा कुर्ता, धोती और जाकेट पहने कंधे पर चादर डाले एक सज्जन हमारे पीछे-पीछे आ रहे हैं। चेहरे पर कुछ ऐसी आत्मीयता, कुछ ऐसी दृढ़ता कि मैं देखता ही रह गया। व्यास जी ने हंसकर कहा, ''अरे विष्णु जी ये ही हैं *नया जीवन* के संपादक कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर। बड़े कर्मठ व्यक्ति हैं चाहें तो बहुत कुछ कर सकते हैं।''

व्यास जी तो हास्य रस के सृष्टा थे। और भी कुछ कहा था उन्होंने हंसते-हंसते लेकिन वह सब यहां अप्रासंगिक है, यह भी अप्रासंगिक है कि उन्होंने धन का जुगाड़ किया या नहीं किया, किया तो कितना किया। प्रासंगिक इतना ही है कि उस पहली ही भेंट में मैं समझ गया था कि यह व्यक्ति न स्वयं हारना जानता है, और न दूसरों को हारने देना चाहता है।

तो ऐसे श्रद्धेय, 'श्रद्धेय' इसलिए क्योंकि वह आयु में मुझसे बड़े थे और उससे भी कहीं बड़े थे अपने कृतित्व में, इसलिए मेरी श्रद्धा के अधिकारी थे। उनमें बहुत-सी विशेषताएं थी। सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह विशेषणों के बहुत प्रेमी थे एक बहुत बड़े मनीषी ने कभी लिखा भी है कि 'मनुष्य को

विशेषणों का प्रयोग बहुत संभलकर और बहुत सोच समझकर करना चाहिए लेकिन मिश्र जी इस बात को बिल्कुल स्वीकार नहीं करते थे उनकी मान्यता थी कि विशेषण ही छूट गए तो किसी का गुणानुवाद कैसे हो सकेगा और गुणानुवाद ही क्यों, अवगुणों की भी चर्चा न हो सकेगी। इसलिए मिश्र जी खुलकर विशेषणों का प्रयोग करते थे या कहना चाहिए कि वह विशेषण न्यौछावर करते थे। एक बार *नया जीवन* में मेरी किसी रचना के साथ मेरा परिचय देते हुए उन्होंने जिन विशेषणों का प्रयोग किया उन्हें पढ़कर मुझे लगा था कि मैं उन्हें किसी चित्रकार से चित्रांकित करवाकर अपने कमरे में टांग दूं। लेकिन वास्तविकता यह है कि आज न तो मेरे पास वह अंक है, न विशेषणों से सुशोभित मेरी वह रचना। बस इतना ही याद करके प्रसन्न हो लेता हूं कि मेरे लिए भी विपुल विशेषणों का प्रयोग किया जा सकता है।

मिश्र जी बादशाह दिल आदमी थे। उनका समूचा व्यक्तित्व 'कंजूसी' शब्द का विलोम है। कहीं झिझक नहीं, अटक नहीं, सीमा भी नहीं। निर्बाध, निसीम, विशाल और विपुल 'यो वै भूमा तत्सुखम्', भूमा में यानी विपुलता-विशालता में ही सुख है, अल्प में नहीं।

मिश्र जी के साथ मेरा एक और विचित्र और संयोगात्मक संबंध रहा न जाने क्यों और कैसे हिंदी के तीन प्रभाकर सर्वश्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, प्रभाकर माचवे और मैं स्वयं विष्णु प्रभाकर, अनेक मित्रों की दृष्टि में एकरूप होकर रह गए थे। वे यह मानने को तैयार ही नहीं होते थे कि उनका अस्तित्व अलग-अलग है।

एक बार मिश्र जी ने मुझे एक निमंत्रण पत्र भेजा था जो मेरे लिए था, पर पहुंच गया था उनके पास। ऐसे अनेक अवसर आते रहते थे। किसी समारोह में मैं एक मंच पर बैठा हुआ था। मेरे पास ही बैठे हुए उस युग के सुप्रसिद्ध कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' बड़ी घनिष्टता से मुझसे बातें करने लगे लेकिन कुछ क्षण बाद ही मैंने पाया कि वह मुझे कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर समझ रहे हैं। मैंने जब उन्हें वास्तविकता से परिचित करवाया तो वह आश्चर्य से मेरी ओर देखते रह गए। बोले, "मैं उनसे एक ही बार मिला हूं शायद इसी कारण ही यह गलती हो गई।"

ऐसी अनेकों रोचक घटनाएं हैं जो बहुत ही साधारण हो सकती हैं लेकिन मेरे लिए इनका एक अर्थ है मुझे इनसे बल भी मिलता है और अपने पर गर्व भी होता है।

न जाने कितनी बार मिलना हुआ उनसे मेरा। उनके घर भी गया हूं उनके साथ रहा हूं उनकी रचनाएं भी पढ़ी हैं, उनकी आत्मीयता को पास से अनुभव किया है और उनका विरोध भी किया है। लेकिन प्रथम साक्षात्कार के समय उनका जो चित्र मेरे मन के पटल पर अंकित हो गया था वह आज भी वैसा ही है। आज शायद मैं यह तो न बता सकूं कि उनकी बाहरी रूप-सज्जा क्या थी परंतु अंतरतम् को चीर जाने वाले उनके दीप्त नयन मुक्त हास्य से आवृत्त कुछ लंबोत्तर मुख और अनंत विश्वास से भरी वह प्रखर वाणी इस रूप को चाहकर भी नहीं भूला सकता मैं। वह सुंदर नहीं थे परंतु उनमें एक अनोखा आकर्षण था। उसी आकर्षण के बल पर वह मित्रों के परम मित्र और विरोधियों के परम विरोधी बन जाते।

जिसका कोई नहीं है जो सताया गया है उसके मिश्र जी सबसे बड़े समर्थक थे। उसे गले ही नहीं लगाते थे, उसके लिए खुलकर लड़ते भी थे। इसलिए वह राष्ट्रीय आंदोलनों में खुलकर आगे रहे। नाना प्रकार की यातनाएं सहीं, अनेकों वर्ष जेलों में बिताए दूसरी ओर निहित स्वार्थ वालों के और मठाधीशों के वह परम शत्रु थे।

हठी भी थे, जल्दी भी कर बैठते थे लेकिन अपने हठ को हमीर हठ नहीं मान लेते थे। उपेक्षित, अपमानित और तिरस्कृत को देखकर उनका अतिशय भावुक मन करुणा से विगिलित हो उठता, यही भावना उनकी शक्ति थी और यही कारण था कि वह मस्तिष्क से अधिक हृदय से संचालित होते थे। वह किसी को अपनाते तो अराध्य बना लेते, किसी का विरोध करते तो उसे आह भी न करने देते। ऐसे व्यक्ति खतरनाक होते हैं और मिश्र जी कम खतरनाक नहीं थे। उनके भीतर अशांत आत्मा और असाधारण मन का वास था। वह मित्रों के मित्र, शत्रुओं के शत्रु थे।

चाणक्य बुद्धि, अंतस्थ को भेदने वाली दृष्टि और सद्यप्रसूता प्रतिभा इन गुणों ने ही उनके अपवादों से घिरे व्यक्तित्व को तेजस्वी और प्रखर बना दिया था। बड़ा हिया चाहिए यह सब होने के लिए तभी कोई 'आवारा मसीहा' हो सकता है।

इसी कारण तो उनके आस-पास जीवन ठहाके मारता था, कहकहे वातावरण को गुंजाते रहते थे। पत्रकारिता का क्षेत्र हो या साहित्य का, राष्ट्रीय आंदोलन हो या व्यवस्था का प्रश्न, सब जगह ही सजीवता और कर्मठता की प्रचुरता दिखाई देती थी। कितने ही आंदोलनों का संचालन किया उन्होंने, कितने पत्रों और पत्रिकाओं का संपादन किया उन्होंने, एक साथ कई-कई पत्रिकाएं चलाईं। अपनी पत्रिकाओं के अतिरिक्त 'भारतीय ज्ञानपीठ' की पत्रिका *ज्ञानोदय* के संपादक भी रहे। उनकी पत्रिकाओं में मैं भी बहुत छपा हूं। कितने ही साहित्यकारों ने उनकी कार्यशाला में दीक्षा पाई है।

ये ही सब गुण उनकी रचनाओं में भी मुखर हुए हैं इसीलिए उनके लिखे रेखाचित्र और संस्मरण जीवन से आप्लावित हैं। ऐसी भाषा लिखी है मिश्र जी ने कि विस्तार का अवगुण भी गुण बन गया। हिंदी साहित्य इतिहास में एक अप्रतिम शैलीकार के रूप में उनका स्थान सुरक्षित है उनकी रचनाओं में दार्शनिकों जैसी गहनता और मूर्तिकारों जैसी सुगढ़ता ढूढ़ना व्यर्थ है। वे छैनी से गढ़कर शब्दों का प्रयोग नहीं करते, उनकी भाषा में माटी की गंध है। वह लोकजीवन से मुहावरे चुनते हैं। धरती के बेटों की भाषा उनका संबल है, उनके मुहावरें उनका शृंगार है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति अर्थगर्भित और सजीव है।

उनकी रचनाओं में संक्षिप्तता नहीं दिखाई देती वह तो अपनी विपुल उदारता और रसमयी अनुभूति के कारण ही लोकप्रिय थे। उन्होंने विद्वानों और आलोचकों के लिए नहीं लिखा है, जो कुछ लिखा है जनता के लिए लिखा है। उस जनता में किसान भी हैं, और कस्बे का व्यापारी भी है इसलिए उनकी भाषा मन को छू जाती है। बड़े से बड़ा साहित्य भी उनके आगे फीका है।

जैसे "अरे लल्ला तेरी दोस्ती तो पंडित जी से तीन घंटे में ही गदराय गई", या "भाई साहब! मर्द को तो डाली पर लगा फूल ही अच्छा लगता है।" ऐसे प्रयोग मिश्र जी ही कर सकते हैं। कितनी अर्थवत्ता है ऐसे शब्दों में, कितनी गहराई। भाषा की शक्ति विश्वविद्यालयों से निकले उन विद्वानों की रचनाओं में नहीं बल्कि उनकी अनगढ़, पर अनभूति से भरपूर रचनाओं के शब्दों में ही मिल सकती है।

मिश्र जी उन्हीं की जाति के व्यक्ति थे, उस जाति का होना साधारण बात नहीं है लेकिन मिश्र जी साधारण कहां थे ? वह एक अशांत आत्मा थे जो सदा कुछ करने को आतुर रहते हैं। गिरे हुओं का संबल, अन्याय के परम विरोधी, चोट खाने में और चोट करने में समान रूप से सजग। रसमयी, मनमोहक, अर्थगर्भित भाषा के धनी, निर्भीक पत्रकार, शैलीकार और अप्रतिम रेखा चित्रकार सहारनपुर के कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर उन व्यक्तियों में से थे जो आकर जाने में नहीं बल्कि जाकर रह जाने में विश्वास करते हैं। □

रूसी कहानी 'ए निन्कॉमपूप का नाट्य रूपांतर

# रीढ़ विहीन

## अन्तोन चेखव

अन्तोन चेखव (1860–1904)

*चेखोव अपनी लेखनी द्वारा इस धरती पर सुंदरता पैदा करना चाहते थे / वह एक ऐसे सुंदर संसार का सपना देखते थे जिसमें अपमान, अन्याय और उत्पीड़न न हो / वह चाहते थे कि मनुष्य दूसरे मनुष्य का सम्मान करे / उसे अपना स्नेह और अपनी सहानुभूति दे / उसे उपहास का पात्र न बनाए /*

*चेखव का कहना था– "आदमी को यह दिखला दो कि वह वास्तव में कैसा है तो वह निश्चय ही बेहतर आदमी बन जायेगा /"*

रूपांतर : **सत्येन्द्र शरत्**

रेखांकन : **संजीव शाश्वती**

*(बच्चों की गवर्नेस जूलिया वासिल्देवना आती है)*

**जूलिया:** (दबे स्वर में) आपने मुझे बुलाया था मालिक?

**गृहस्वामी :** हां हां...बैठ जाओ जूलिया...खड़ी मत रहो।

**जूलिया :** (बैठती हुई) शुक्रिया।

**गृहस्वामी:** हां तो जूलिया मैं तुम्हारी तनख्वाह का हिसाब करना चाहता हूं। मेरे ख्याल से तुम्हें पैसों की जरूरत होगी; और जितना मैं तुम्हें अब जान सका हूं, मुझे लगता है कि तुम अपने आप पैसे कभी नहीं मांगोगी। इसलिए मैं खुद ही तुम्हें पैसे देना चाहता हूं। हां, तो तुम्हारी तनख्वाह तीस रूबल महीना तय हुई थी न?

**जूलिया:** (विनीत स्वर में) जी नहीं मालिक, चालीस रूबल।

**गृहस्वामी:** नहीं भाई, तीस...ये देखो डायरी (पन्ने पलटते हुए ) मैंने इसमें नोट कर रखा है। मैं बच्चों की देखभाल और उन्हें पढ़ाने वाली हर गवर्नेस को तीस रूबल महीना ही देता हूं। तुम से पहले जो गवर्नेस थी, उसे भी मैं तीस रूबल महीना ही देता था। अच्छा, तो तुम्हें हमारे यहां काम करते हुए दो महीने हुए हैं।

**जूलिया:** (दबे स्वर में ) जी नहीं, दो महीने पांच दिन।

**गृहस्वामी :** क्या कह रही हो जूलिया? ठीक दो महीने हुए हैं। भाई, मैंने डायरी में सब नोट कर रखा है। हां, तो दो महीने के बनते है- अंऽऽ साठ रूबल। लेकिन साठ रूबल तभी बनते हैं जब महीने में तुमने एक दिन भी छुट्टी न की हो...तुम ने इतवार को छुट्टी मनाई है। उस दिन तुमने कोई काम नहीं किया। सिर्फ कोल्या को घुमाने के लिए ले गई हो...और ये तो तुम भी मानोगी कि बच्चे को घुमाने ले जाना कोई काम नहीं होता...इसके अलावा, तुमने तीन छुट्टियां और ली हैं। ठीक है न?...

**जूलिया:** (दबे स्वर में) जी, आप कह रहे हैं तो...ठीक...(रुक जाती है)

**गृहस्वामी :** अरे भाई ... मैं क्या गलत कह रहा हूं... हां तो नौ इतवार और तीन छुट्टियां-यानी बारह दिन तुमने काम नहीं किया- यानी तुम्हारे बारह, रूबल कट गए। उधर कोल्या चार दिन बीमार रहा और तुमने सिर्फ वान्या को ही पढ़ाया। पिछले हफ्ते शायद तीन दिन दांतों में दर्द रहा था और मेरी पत्नी ने तुम्हें दोपहर बाद छुट्टी दे दी थी। तो बारह और सात-उन्नीस। उन्नीस नागे। हां तो भई, घटाओ साठ में से उन्नीस...कितने रहते हैं...अग्...इकतालीस . .. इकतालीस रूबल! ठीक है?...

**जूलिया:** (रुआंसी हो जाती है। रोते स्वर में) जी हां।

**गृहस्वामी:** (डायरी के पन्ने पलटते हुए ) हां, याद आया... पहली जनवरी को तुमने चाय की प्लेट और प्याली तोड़ी थी। प्याली बहुत कीमती

थी। मगर मेरे भाग्य में तो हमेशा नुकसान उठाना ही बदा है।... मैंने जिसका भला करना चाहा, उसने मुझे नुकसान पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है ... खैर मेरा भाग्य!...हां, तो मैं प्याली के दो रूबल ही काटूंगा...अब देखो उस दिन तुमने ध्यान नहीं दिया और तुम्हारी नजर बचाकर कोल्या पेड़ पर चढ़ गया और वहां किसी टहनी की खरोंच लगने से उसकी जैकेट फट गई। दस रूबल उसके गए... इसी तरह तुम्हारी लापरवाही की वजह से घर की सफाई करने वाली नौकरानी मारिया ने वान्या के नये जूते चुरा लिये... (रुक कर) तुम मेरी बात सुन भी रही हो या नहीं?

**जूलिया :** (मुश्किल से अपनी रुलाई रोकते हुए) जी सुन रही हूं।

**गृहस्वामी :** हां ठीक है। अब देखो भाई, तुम्हारा काम बच्चों को पढ़ाना और उनकी देखभाल करना है। तुम्हें इसी के तो पैसे मिलते हैं। तुम अपने काम में ढील दोगी तो पैसे कटेंगे या नहीं?...मैं ठीक कह रहा हूं न!...तो जूतों के पांच रूबल और कट गए... और हां, याद आया, दस जनवरी को मैंने तुम्हें दस रूबल दिये थे...।

**जूलिया :** (लगभग रोते हुए) जी नहीं, आपने कुछ नहीं...(आगे नहीं कह पाती)

**गृहस्वामी:** अरे मैं क्या झूठ बोल रहा हूं?... मैं डायरी में हर चीज़ नोट कर लेता हूं। तुम्हें यकीन न हो तो दिखाऊं डायरी?(डायरी के पन्ने यूं ही उलटने लगता है)

**जूलिया :** (आंसू पोंछती हुई) आप कह रहे हैं तो आपने दिये ही होंगे।

**गृहस्वामी:** (कड़े स्वर में) दिये होंगे नहीं-दिये हैं...तो ठीक है। घटाओ सत्ताइस, इकतालिस में से...अम् अम्...बचे चौदह। क्यों हिसाब ठीक है न?

**जूलिया:** (आंसू पीती हुई) (कांपती आवाज में) मुझे अभी तक एक ही बार कुछ पैसे मिले थे और वो मुझे मालकिन ने दिये थे...सिर्फ तीन रूबल। ज्यादा नहीं।

**गृहस्वामी:** (जैसे आसमान से गिरा हो) अच्छा!...और इतनी बड़ी बात तुम्हारी मालकिन ने मुझे बताई तक नहीं!...देखो, तुम न बताती तो हो जाता न अनर्थ!... खैर, देर से ही सही...मैं इसे भी डायरी में नोट कर लेता हूं...(डायरी खोलकर उसमें यूं ही कुछ लिखता है) हां तो, चौदह में से तीन और घटा दो-बचते हैं, ग्यारह रूबल! (जेब से निकालकर) तो लो भाई, ये रही तुम्हारी तनख्वाह...ये रहे ग्यारह रूबल (देते हुए) सम्हाल लो...गिन लो, ठीक है न?

**जूलिया:** (कांपते हाथों से रूबल लेती है। कांपते ही स्वर में) जी धन्यवाद!

**गृहस्वामी :** (सोफे से उछलकर खड़ा हो जाता है और भारी आवाज़ करता हुआ कमरे में क्रुद्ध शेर की तरह एक-दो चक्कर लगाता है) 'धन्यवाद।'... जूलिया तुमने 'धन्यवाद' कहा न! ...(गुस्से से) धन्यवाद किस बात का?

**जूलिया :** आपने मुझे पैसे दिये- इसके लिए धन्यवाद।

**गृहस्वामी:** (अपना गुस्सा नहीं सम्हाल पाता) (ऊंचे स्वर में लगभग चिल्लाते हुए) तुम...तुम मुझे धन्यवाद दे रही हो जूलिया? जब कि तुम अच्छी तरह जानती हो कि मैंने तुम्हें ठग लिया है...तुम्हें धोखा दिया है...तुम्हारे पैसे हड़प लिये हैं...और तुम...तुम इसके बावजूद तुम मुझे धन्यवाद दे रही हो! (गुस्से में आवाज कांपने लगती है)

**जूलिया:** जी हां मालिक...

**गृहस्वामी:** (गुस्से में तुतलाने लगता है) 'जी हां मालिक!' जी हां मालिक!...क्यों? क्यों जी हां मालिक?...

**जूलिया :** (डर जाती है भयभीत स्वर में) क्योंकि इससे पहले मैंने जहां-जहां काम किया, उन लोगों ने तो मुझे एक पैसा तक नहीं दिया...आप कुछ तो दे रहे हैं।

**गृहस्वामी:** (क्रोध के कारण कांपते, उत्तेजित स्वर में) उन लोगों ने तुम्हें एक पैसा तक नहीं दिया जूलिया, मुझे ये बात जानकर जरा भी आश्चर्य नहीं हो रहा है...(स्वर धीमा कर) जूलिया, मुझे इस बात के लिए माफ कर देना कि मैंने तुम्हारे साथ एक छोटा सा क्रूर मजाक किया...पर मैं तुम्हें सबक सिखाना चाहता था। देखो जूलिया, मैं तुम्हारा एक पैसा नहीं मारूंगा..(जेब से निकाल कर) ये हैं तुम्हारे अस्सी रूबल!...मैं अभी इन्हें तुम्हें दूंगा...लेकिन इससे पहले मैं तुमसे कुछ पूछना चाहूंगा- 'जूलिया, क्या ये जरूरी है कि इंसान भला कहलाने के लिए, इतना दब्बू, भीरू और बोदा बन जाये कि उसके साथ जो अन्याय हो रहा है, इसका विरोध तक न करे? बस, खामोश रहे और सारी ज्यादतियां सहता जाये?... नहीं जूलिया नहीं...इस तरह खामोश रहने से काम नहीं चलेगा। अपने को बचाये रखने के लिए, तुम्हें इस कठोर, क्रूर, निर्मम और हृदयहीन संसार से लड़ना होगा। अपने दांतों और पंजों के साथ लड़ना होगा पूरी शक्ति के साथ...मत भूलो जूलिया, इस संसार में दब्बू और रीढ़रहित लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है...कोई स्थान नहीं है..। □

# कौमी एकता के प्रतीक : राही मासूम रजा

***राम और मस्जिद का बैर बहुत पुराना नहीं है / यदि इनमें झगड़ा होता तो रसखान ने मक्के के गड़रिये की जगह ब्रज के गड़रिये को अपने काव्य की आत्मा क्यों बनाया होता और सूफियों ने कृष्ण की काली कमली अपने मोहम्मद को ओढ़ाकर उन्हें काली कमलीवाला क्यों कहा होता / गंगा–जमुनी संस्कृति के प्रतीक राही मासूम रजा के व्यक्तित्व और कृतित्व पर*** **चन्द्रशेखर पाण्डेय**

राही मासूम रजा आधुनिक हिंदी साहित्य के पथ पर चलने वाले एक ऐसे राहगीर हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में साम्प्रदायिक सद्भावना का संतूर बजाया है। आपने अपनी साहित्यिक जिन्दगी में कुल आठ उपन्यास लिखे। जिसमें 'कौमी एकता' की तस्वीर साफ-साफ प्रतिबिम्बित होती है।

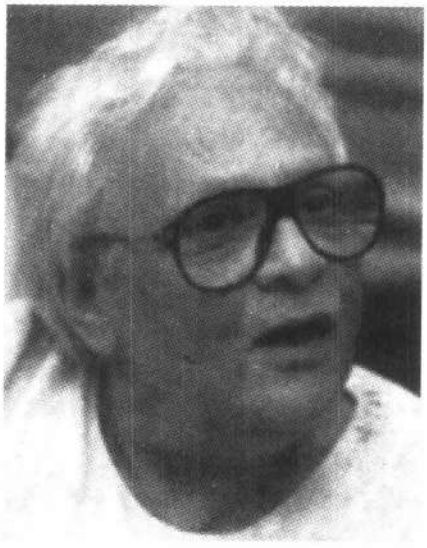

राही मासूम रजा

राही साहब खुले मन के आदमी थे। उनके व्यक्तित्व पर ग्रामीण और नगरीय जीवन का गहरा प्रभाव था। *आधा गांव* गंगौली जैसे देहाती परिवेश में बिताये गए अनुभव का परिणाम हैं। *आधा गांव* में हिंदु-मुस्लिम प्रीत खुलकर झांकता है। तभी तो मोहर्रम त्योहार में मुस्लिम परिवार के अलावा हिंदू जाति के लोग भी जमकर हिस्सा लेते हैं। ताजिये के चलते जब उत्तर-दक्षिण पट्टी में फौजदारी होती है तो अपने मुहल्ले के मुस्लिम समाज के साथ होकर लड़ते हैं। *आधा गांव* का नायक फुन्नन मियां सच्चे भारतीय हैं। तभी तो कहते हैं, ''ये भाई! बाप दादा का कबुर हिंया है, इमामबाड़ा हिंया है, खेती बाड़ी हिंया है, हम कवनो बुरबक हैं कि तोहरे पाकिस्तान जिंदाबाद में फंस जाए।'' (*आधा गांव* पृष्ठ 155)

राही मासूम रजा गंगा को कौमी एकता की धरोहर मानते हैं। तभी तो *आधा गांव* में गंगा को संदर्भित करते हुए कहते हैं, ''गंगा इस नगर के सिर पर और गालों पर हाथ फेरती रहती है। लगता है कोई मां अपने बीमार बच्चे को प्यार कर रही हो, परंतु जब इस प्यार की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तो गंगा बिलख-बिलखकर रोने लगती है और यह नगर उसके आंसुओं में डूब जाता है। लोग कहते हैं कि बाढ़ आ गई। मुसलमान अजान देने लगते हैं। हिंदू गंगा पर चढ़ावे चढ़ाने लगते हैं कि रुठी हुई गंगा मैया मान जाए।

अपने प्यार की इस हतक पर गंगा झल्ला जाती है और किले की दीवार से अपना सिर टकराने लगती है और उसके उजले सफेद बाल उलझकर दूर-दूर तक फैल जाते हैं। हम उन्हें झाग कहते हैं। गंगा जब यह देखती है कि उस दुख को कोई नहीं समझता तो वह अपने आंसू पोंछ डालती है। तब हम यह कहते हैं पानी उतर गया। मुसलमान कहते हैं कि अजान का बार कभी खाली नहीं जाता। हिंदू कहते हैं कि गंगा ने उनकी भेंट स्वीकार कर ली और कोई यह नहीं कहते हैं कि मां के आंसुओं ने जमीन को और भी उपजाऊ बना दिया है।

इसीलिए तो डा. प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि ''यदि समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य में से केवल दस उपन्यास चुने जाएं तो हिंदी का प्रतिनिधित्व केवल *आधा गांव* ही कर सकता है। *आधा गांव* प्रेमचंद से एक कदम आगे की चीज है।''

वैसे तो राही को *आधा गांव* से ही सोहरत मिल चुकी थी लेकिन जिन्दगी कब करवट बदल दे कोई नहीं जानता। कुछ व्यक्तिगत कारणों से अलीगढ़ विश्वविद्यालय छोड़कर इन्हें मुम्बई जैसे महानगर में शरण लेनी पड़ी थी। वे उनके कष्ट के दिन थे। अपनी यादों के दायरे में उन्होंने कभी *सारिका* में लिखा था : ''यहां कई दोस्त मिले जिनके साथ अच्छी-बुरी गुजरी। कृष्ण चंदर, भारती, कमलेश्वर जो शुरू में ही न मिल गए होते तो मुंबई में मेरा रहना असम्भव हो जाता। शुरू में मेरे पास कोई काम नहीं था और मुंबई में मैं अजनबी था। उन दिनों इन दोस्तों ने बड़ी मदद की। इन्होंने मुझे जिंदा रखने के लिए मेरी तौहीन नहीं की। इन्होंने मुझे उल्टे सीधे काम दिए और उस काम की मजदूरी दी। पर इसका मतलब यह नहीं की मैं इन लोगों के अहसान से कभी बरी हो सकता हूं। कर्ज उतर जाता है, अहसान नहीं उतरता।'' (1976 *सारिका*, पृष्ठ 64)

राही मासूम रजा ने देश विभाजन का दर्द झेला था। सच्चे भारतीय होने के नाते उन्होंने सदैव इस बात का अहसास किया था कि हिंदू-मुसलमान सौहार्द के बिना राष्ट्र का चहुंमुखी विकास संभव नहीं है। इनके उपन्यास *टोपी शुक्ला* में कौमी एकता को गाढ़ा रंग देने के लिए सराहनीय प्रयास किया गया है। इस उपन्यास के मुख्य चरित्र इफ्फन और टोपी की दोस्ती के माध्यम से जमाने को हिंदू-मुस्लिम दोस्ती का संदेश दिया गया है। इस संदर्भ में कुछ मनभावन पंक्तियां दृष्टव्य हैं :

हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव झूठा है। पंडितजी ने कहा, 'यह तो भगवान की लीला है'।

भगवान विचारे को क्यों घसीट रहे हैं। पंडितजी- मैं हिंदू हूं।

परंतु कहीं मुझे एक नौकरी नहीं मिलती क्योंकि मैं मुस्लिम यूनिवर्सिटी में पढ़ाता हूं। मुझे आप अपने साथ नहीं बैठने देते क्योंकि मैं शेरवानी पहने हुए हूं और यह तोंद वाले श्रीमान तो मुझे पाकिस्तान भेज दे रहे हैं। (टोपी शुक्ला, पृष्ठ 101)

इफ्फन की बीबी सकीना धार्मिक रूप से कट्टर है पर टोपी की बहुत इज्जत करती है। वह उसे भाभी का प्यार देती है। इफ्फन की बीबी 'सकीना' से जब टोपी पैसा मांगता है तो वह अपने खूंटे से पांच रुपये निकाल कर देती है। ऐसे में लगता है कि राही ने हिंदू-मुस्लिम सद्भावना के लिए कलम तोड़ दिया है।

उपन्यास, *आंस की बूंद* भी इस संदर्भ में एक मिसाल कायम करता है जिसमें हिंदू-मुस्लिम विभेद की चर्चा करते हुए दोनों संप्रदाय के मिलन का एक सुन्दर वातावरण तैयार किया गया है। इसमें दो दोस्त एक हिंदू तथा एक मुस्लिम हैं। एक वजीर हसन और दूसरा दीनदयाल। बचपन के दोनों लंगोटिया यार हैं। दोनों ने अमरूद तक चुराया है। कुजड़ों की गालियां सुनी हैं। वक्त बीतता गया। बड़े होते राजनीति और धर्म की हवा ने दोनों को अलग कर दिया। वजीर खां दंगे में मारा जाता है।

शाहला वजीर की पोती है। वह अपने दादा के नाम पर मजार बनवाना चाहती है। अंत में दीनदयाल कहते हैं कि ये बिटिया वजीर हसन का मजार तुम हमारे आंगन में बनवा दो। वजीर नहीं समझों, हम ही मरे हैं। यह बात सुन शाहला कहती है, "दीनदयाल दादा उसमें मजदूर नहीं लगवाऊंगी। उसे अपने हाथों से दोस्ती की मजार बनाऊंगी।" कौमी एकता पर लिखी ये लाइनें सोचने को बिबस करती हैं। राही ने अन्तरआत्मा की आवाज को सदैव मन की स्याही से लिखने का जी तोड़ प्रयास किया है।

*दिल एक सादा कागज* उपन्यास भी इस शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी है। राही ने इस उपन्यास में कवित्व भाव उकेरते हुए लिखा है कि-

*मैं भी एक ख्वाब हूं।*
*ख्वाब तो वह है*
*जिसको कोई देख रहा हो*
*मैं एक वेद हूं*
*एक गीता हूं*
*एक इंजील हूं*
*एक कुरआन हूं*

किसे भला इतनी फुर्सत है, मुझे उठाकर जो यह देखे, मुझमें आखिर क्या लिखा है।"

ये सारी पंक्तियां इस बात को दर्शाती हैं कि राही संकीर्ण विचार के आदमी नहीं थे, बल्कि इनकी दृष्टि में सभी धर्म समान थे। इनके विचार धर्म निरपेक्षता के पोषक थे।

राही ने अपने उपन्यासों में चुटिले व दिलचस्प संवादों के माध्यम से भी साम्प्रदायिकता पर करारा प्रहार किया है। तभी तो दिल एक सादा कागज में एक संवाद आया है कि क्या तारीखें भी हिंदू-मुसलमान होने लगीं।

दिल एक सादा कागज

'सीन 75' उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर छपी 'वसीयत' शीर्षक कविता में गंगा नदी के प्रति उपन्यासकार की गहरी आस्था प्रकट होती है।

*मेरा फन मर गया यारों*
*मैं नीला पड़ गया यारों*
*मुझे ले जाके गाजीपुर की*
*गंगा की गोद में सुला देना*
*मगर शायद वतन से दूर मौत आए*
*तो मेरी यह वसीयत है*
*अगर उस शहर में छोटी-सी*
*एक नदी भी बहती हो*
*तो मुझको*
*उसकी गोद में सुलाकर*
*उससे यह कह देना कि*
*यह गंगा का बेटा आज तेरे हवाले है*

इतनी बड़ी बात किसी मुस्लिम साहित्यकार ने खुलकर कभी नहीं कही है।

*असंतोष के दिन* उपन्यास में भी साम्प्रदायिक चिंतन खुलकर सामने आया है। इस उपन्यास में प्यार-मोहब्बत तथा मजहब व शादी के संदर्भ में पुरुष तथा नारी पात्रों के बीच बड़ा रसीला वार्तालाप हुआ है। जिसमें साम्प्रदायिक भेद-भाव दूर करने की एक पृष्ठभूमि तैयार की गई है-

लड़के की बात और है, पर मैं अपनी लड़की मुसलमान में नहीं ब्याह सकता।

क्यों नहीं ब्याह सकते? कांता बोली।

उसने मुसलमान लड़के से प्यार की है तो भुगते।

कमाल करती हो। मैं मुसलमान होता तो क्या तुम मुझसे ब्याह कर लेती?

कांता बोली- "पर जो प्यार करती तो ब्याह भी करती।"

तुम भी कमाल की औरत हो कांता।

नहीं मैं तुम्हारी औरत हूं।

असंतोष के दिन में सम्प्रदायवाद की संकरी गली से दूर निकलते हुए उदार दृष्टिकोण का रूप दर्शाया गया है। इस उपन्यास में सलमा और रेवती के प्यार की चर्चा है, जो लाख विरोध के बाद भी शादी कर लेते हैं। इस संदर्भ में निम्नांकित पंक्ति बड़ी चुटीली हैं।

"मजहब का इश्क से क्या लेना देना।"

असंतोष के दिन में हिंदू-मुसलमान से ऊपर उठकर इन्सानियत की बात कही गई है। बानगी स्वरूप यह पंक्तियां निम्नलिखित हैं।

"वर्क साहब मर गए

हिन्दू चला गया न मुसलमान चला गया, इंसा की जुस्तुजू में एक इंसा चला गया।"

*वैसे तो कटरा दी आर्जू* राही साहब का राजनीतिक उपन्यास है जिसमें इलाहाबाद को केन्द्रित कर आपातकालीन स्थितियों का चित्रण किया गया है फिर भी 'देश' नामक पात्र जो नेशनल गैराज में सम्मू मियां से काम सीखता

शेष पृष्ठ 18 पर जारी

# प्रेमचंद के समकालीन सुदर्शन

***सुदर्शन की कहानियों में जो दिल आवेजी है वह दूसरों में बहुत कम नजर आती है / यहां आपको नयी तरकीबें और बंदिशें नहीं मिलतीं / प्रेमचंद के समकालीन हिंदी के सुप्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन के व्यक्तित्व और कृतित्व पर रोशनी डाल रहे हैं मदन गोपाल***

मेरे विद्यार्थी जीवन काल में जिन कहानी लेखकों की चर्चा होती थी उनमें प्रमुख प्रेमचन्द और सुदर्शन थे। दोनों की शुरूआत उर्दू से हुई और फिर ये हिंदी में आए थे। मैंने प्रेमचंद की कहानी 'जुगनू की चमक' और सुदर्शन की कहानी 'गृहदाह' पढ़ी थी। दोनों ही कहानियों ने दिल को छू लिया था। बी. एस.सी. की कक्षा में मैंने रसायन और भौतिकी विज्ञान की पढ़ाई की थी। कहानियां पढ़ने का अवकाश नहीं होता था, न ही रुचि थी। स्नातक की डिग्री के बाद प्रतियोगिता की तैयारी में लग गया था। तब अवकाश में कहानियां और उपन्यास पढ़े। यह भी उर्दू में जो बड़ी संख्या में मेरे निवास के नजदीक यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में मौजूद थे। तब चसका पड़ गया। पत्रिकाओं को भी पढ़ने का अवसर मिला।

कानपुर में उर्दू मासिक *जमाना* मिलता था। इसके संपादक प्रेमचंद के मित्र दयानारायण निगम ने लिखा था कि प्रेमचंद और सुदर्शन दोनों चोटी के कहानी लेखक हैं। एक तरह से यह मेरी धारणा की पुष्टि थी। मैंने *हंस* के प्रेमचंद श्रद्धांजलि अंक में सुदर्शन का प्रेमचंद पर लेख पढ़ा और प्रभावित हुआ। मुझे उनसे मिलने का अवसर नहीं मिला, परंतु उस लेख से एक-दूसरे के प्रति मैत्री की जानकारी मिली। सुदर्शन सोलह वर्ष छोटे थे परंतु प्रेमचंद के प्रशंसक थे। उन्होंने झिझकते हुए प्रेमचंद से लिखकर पूछा क्या वह उनकी *बहारिस्तान* की भूमिका लिखेंगे। प्रेमचंद ने कहा क्यों नहीं अगर हम एक-दूसरे के काम नहीं आएंगे तो कौन आएगा। वैसे भी प्रेमचंद सभी नये लेखकों की कहानियां पढ़ते थे। कभी-कभी प्रशंसा का पत्र भी लिख देते थे।

सुदर्शन की कहानियां पढ़ी थीं, भूमिका के लिए पाण्डुलिपि मंगवायी और भूमिका में हर कहानी की समालोचना भी की। भूमिका में लिखा– "यूं तो उर्दू में कितने ही असहाब कहानियां लिखते हैं, मगर सुदर्शन की कहानियों में जो दिल आवेजी है वह दूसरों में बहुत कम नजर आती है। यहां आपको नयी तरकीबें और बंदिशें नहीं मिलती। शायरान बुलंद परवाजियों के अंदाज से आप को कई गुणा मायूसी होगी लेकिन एक किस्सा अव्वल से आखिर तक खत्म कर आप सोचने लगेंगे कि आप के दिल के किसी तार पर जरूर उंगली रख दी होती। आप को इत्मीनान होगा कि मुझे वत्तू का काफी मुआवजा मिल गया। हर एक कहानी में कोई न कोई हिकमत जरूर है। जज्बा इंसानी के किसी पहलू पर रोशनी जरूर पड़ती है।" ...

"आप अभी नौजवान है। उर्दू जुबान और कौम को आप से अभी बहुत उम्मीदें हैं। हमें उम्मीद है कि इस जद्दोजहद के जमाने में आप आरजी मसरुफियत में महव न होकर लिटरेचर की देवी के भक्त बने रहेंगे।"

जब *बहारिस्तान* लिखी गई तो सुदर्शन की आयु केवल 21 वर्ष की थी। तीन वर्ष पूर्व उनकी एक कहानी 'प्रलय की रात्रि' *सरस्वती* में प्रकाशित हुई थी। यह 1922 की बात है' याद रहे सरस्वती में प्रेमचंद की पहली कहानी 'सौत' केवल छह वर्ष पूर्व छपी थी।

सुदर्शन का जन्म पंजाब के नगर सियालकोट में हुआ था। यह वही नगर है जिसमें प्रसिद्ध कवि सर मुहम्मद इकबाल का जन्म हुआ था। दोनों के परिवार कश्मीर से सियालकोट आकर बसे थे। इकबाल कहा करते थे कि वह सप्रू ब्राह्मण परिवार के हैं। सुदर्शन के पिता गुरणदित्ता मल भी सारस्वत ब्राह्मण थे। जन्म के समय सुदर्शन का नाम बद्रीनाथ रखा गया था। पांच वर्ष की आयु में क्रिश्चियन स्कूल में भर्ती हुए। वहां से इन्टर पास की। बचपन से उन्हें शौक था कि अपना नाम (सुदर्शन) छपा हुआ देखें। लाहौर से *पैसा* अखबार मंगवाना शुरू किया। मित्रों को अपना छपा हुआ नाम दिखलाया। एक ने कहा यह तो कोई भी कर सकता है। रकम भर दो, अखबार आने लगेगा। नाम छपा होता है कुछ लिखो तो बात बने।

सुदर्शन ने कुछ महान व्यक्तियों के बारे में छिट-पुट घटनाओं को इकट्ठा कर लेख भेज दिया। यह *पैसा* नामक अखबार में छपा। अब मित्रों ने कहा भई वाह! यह तो दूसरों के जीवन की घटनाओं को ब्यौरा है। कोई ऑरिजिनल चीज तो नहीं है। बात सुदर्शन को चुभी। लिखना शुरू किया। एक लेख का शीर्षक था 'कुछ कर के दिखाओ'। यह भी *पैसा* अखबार में प्रकाशित हुआ। तभी सुदर्शन के लिए पत्रिकाओं और साहित्य का द्वार खुल गया। 1913 में वह लौहार की पत्रिका *देश* के सम्पादकीय विभाग में शामिल हो गए। उम्र थी अठारह साल, फिर मुड़कर नहीं देखा। कई अन्य पत्रिकाओं से जुड़े रहे। दो अपनी पत्रिकाएं भी निकालीं।

यह वह समय था जब साहित्य सेवा और पत्रकारिता एक साथ चलते थे। दोनों की पृष्ठभूमि थी समाज सुधार, उच्च व्यक्तिगत आचरण और देश की स्वतंत्रता। पत्रकार कहानियां, उपन्यास, कविताएं और नाटक भी लिखते थे।

प्रथम विश्वयुद्ध का जमाना था। सुदर्शन *जाट गजट* के सम्पादकीय विभाग से जुड़े थे। सरकार ने एक लेख पर आपत्ति की। सुदर्शन को पत्र छोड़ना पड़ा। *जाट गजट* छोड़कर वह जालंधर आए। वहां *भारत* की नौकरी कर ली। यहां उनके जीवन ने नया मोड़ लिया। बटाला के धनी परिवार की लड़की लीलावती से उनका विवाह हुआ। लीलावती केवल हिंदी जानती थी और सुदर्शन केवल उर्दू। एक-दूसरे ने उर्दू और हिंदी पढ़ाना शुरू किया। सुदर्शन को हिंदी से इतना प्यार हो गया कि स्वामी दयानंद सरस्वती के जीवन पर एक ड्रामा लिख डाला। कहानियां भी हिंदी में लिखनी शुरू कर दी। अब उनकी

कहानियां उर्दू और हिंदी दोनों ही की पत्रिकाओं में छपने लगी। चर्चित भी हुईं। पत्रिकाओं से कहानियों की मांग आने लगी। कहानियों में उत्तम चरित्र, स्वच्छ जीवन और उच्च आदर्शों पर बल दिया जाता उनकी कहानियों की चर्चा तो होती परंतु कोई प्रकाशक उनके संकलन *सदाबहार फूल* को प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं था। लीलावती ने अपने कुछ जेवर बेचकर उनको कुछ राशि दी जिससे *सदाबहार फूल* प्रकाशित हो सका।

*जाट गजट* छोड़कर *भारत* में आए थे। यहां भी बहुत दिन नहीं चल सके। लीलावती के पिता की आर्थिक सहायता से एक पत्रिका *चन्दर* शुरू की। यह भी अठारह महीने बाद बंद करनी पड़ी।

कहानी के क्षेत्र में सुदर्शन की ख्याति थी। उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं में। दूसरा संकलन *बहारिस्तान* था जिसकी भूमिका प्रेमचंद ने लिखी थी। फिर अन्य कई संकलन निकले *चश्मा व चिराग, तायरे खयाल, सौलह सिंगार, चंदन सुबहे वतन*। हिंदी में जो संकलन प्रकाशित हुए, वे थे– *पुष्पलता, तीर्थयात्रा, सुदर्शन सुमन, गल्प मंजरी, भाग्य चक्र, सुदर्शन सुधा* तथा *परिवर्तन* ।

यह वह समय था जब जीविका के लिए साहित्य सेवा या पत्रकारिता को आधार नहीं बनाया जा सकता था। रोजी-रोटी के लिए नौकरी भी जरूरी थी। 1924 में सुदर्शन को कानपुर की एक ब्रिटिश इंडिया कारपोरेट के लाल इमली विभाग के विज्ञापन विभाग में नौकरी मिल गई। कानपुर में सुदर्शन के *जमाना* के सम्पादक दयानारायण निगम उनके मित्रगण और गणेश शंकर विद्यार्थी के समकालीन लेखकों में घनिष्ट संबंध स्थापित हुए। जिस कंपनी में वह काम करते थे वहां अवकाश कम मिलता था। जिससे कहानियों की संख्या में कमी आयी। प्रेमचंद जो लखनऊ से आते रहते थे उन्होंने भी इस पर दुख व्यक्त किया, सुदर्शन ने स्थिति से अवगत कराया और पूछा तो बतलाइए नौकरी छोड़ दूं। प्रेमचंद ने कहा यह हिमाकत न कर बैठना। मुझे कोसोगे हिंदी प्रकाशकों में इतना दम कहां जो किसी लेखक को खाने-पीने की तरफ से बेनियाज कर दे''।

दोस्तों की सलाह कुछ भी हो, विधाता की मर्जी यही थी कि नौकरी छोड़नी पड़ी। कांग्रेस का स्वतंत्रता संग्राम जोर पकड़ रहा था। विदेशी शराब और वस्तुओं के विरुद्ध पिकटिंग में कितनी ही महिलाएं शरीक हो रही थीं। लीलावती भी। इन्हें जेल भेजा गया। खबर लाल इमली के ब्रिटिश अधिकारियों को भी मिली। सुदर्शन की छुट्टी कर दी गई। परिवार समेत यह लाहौर लौटे और यहां एक मासिक पत्रिका *चंदा* का प्रकाशन शुरू किया। परंतु यह भी घाटे का सौदा रहा और दो वर्ष बाद इसे एक लेखक विकार अंबालवी को 500 रुपये में बेचकर सुदर्शन ने इसे भी अलविदा कहा। फिर यह बम्बई और कलकत्ता चले गए।

समाचार पत्रों का सौदा घाटे का था। पुस्तकों की चर्चा तो होती परंतु आमदनी के लिहाज से यह भी घाटे का सौदा था। कहानियों और उपन्यासों का यह लाभ हुआ कि सुदर्शन को फिल्म कम्पनियों ने सीनेरियो लिखने के लिए आमंत्रित किया। यहां उन्हें वह सफलता मिली जो उन्हें पत्रकारिता और कहानी संकलनों से नहीं मिली थी उनकी कितनी ही कहानियों या चरित्रों को फिल्माया गया। 'अंजना', 'आनरेरी मजिस्ट्रेट', 'कुदरत के फूल', 'पत्थरों का सौदागर', 'खुश अंजाम', 'बेगुनाह मुजरिम', 'भगवंती', 'अंगूठी का मुकदमा', 'मुहब्बत का इंतकाम', 'अंधे की दुनिया', 'कंवारी विधवा', 'भाग्य चक्र', 'धूप छाओं', 'ग्रामोफोन सिंगर', 'पृथ्वी बल्लभ', 'मजधार', 'परख', 'सिकन्दर', 'कुंदन'। यह बहुत ही लोकप्रिय हुये और पुरानी पीढी के लोगों को उनकी अभी भी याद है। इस क्षेत्र में सुदर्शन को बड़ी ख्याति मिली। आज उनके नाम को फिल्मों से अधिक जोड़ा जाता है। शायद प्रेमचंद को फिल्मों में जाने के लिए प्रेरणा इन्हीं से मिली थी। हालांकि उन्हें निराशा हुई। सुदर्शन कई वर्षों तक कोलकाता और मुंबई में कार्यरत रहे। सुदर्शन का निधन 16 दिसंबर 1967 में बम्बई में हुआ।

1954 में मैंने सुदर्शन जी को एक पत्र लिखा था, यद्यपि उनके लिए मैं अजनबी था, परंतु प्रेमचंद के पत्रों के संकलन में उनकी सहायता चाहता था। 'सिलवरटन', महिम से उनका तुरंत एक प्यारा पत्र आया जिसमें लिखा था :

''आप के लेख और आलोचनाएं मैंने अक्सर *टाइम्स ऑफ इंडिया* में देखी हैं और उन्हें देखकर खुश हुआ हूं। आलेखों का प्रकाश में आना मेरे लिए नए नहीं हैं, परिचित हैं, बल्कि सुपरिचित हैं। आपके साक्षात्कार के दर्शन तो नहीं हुए मगर शब्दों के शीशे में आपके दर्शन प्राप्त होते रहते हैं। आप प्रेमचंद जी के पत्र जमा कर रहे हैं। यह बड़ा पवित्र काम है। हमारी हिंदी में पत्र साहित्य है ही नहीं आप यह काम करके हिंदी प्रेमियों के लिए नयी राह खोल रहे हैं। 8-10 दिन में मैं दिल्ली आ रहा हूं। साक्षात दर्शन की कोशिश करूंगा।''

दुर्भाग्यवश हमारी भेंट नहीं हुई। 1967 में वह चल बसे। □

---

## कौमी एकता के प्रतीक : राही मासूम रजा

**पृष्ठ 16 से आगे**

है, ऐसे तथ्यों का चित्रण उनके हिंदू-मुस्लिम मधुर संबंधों की व्याख्या करता है।

उपन्यास *हिम्मत जौनपुरी* शेख मुबाकर अली का जिन्दगीनामा है। इस उपन्यास में गंगा-जमुनी संस्कृति की बेमिसाल बात कही गई है।

''राम और मस्जिद का बैर बहुत पुराना नहीं है। यदि इनमें झगड़ा होता तो रसखान ने मक्के के गड़रिये की जगह ब्रज के गड़रिये को अपने काव्य की आत्मा क्यों बनाया होता और सूफियों ने कृष्ण की काली कमली अपने मोहम्मद को ओढ़ाकर उन्हें काली कमलीवाला क्यों कहा होता।''

*हिम्मत जौनपुरी* में भी राही ने गंगा के ऊपर निम्नांकित पंक्तियां लिखकर अपने साम्प्रदायिक नेह-स्नेह का परिचय दिया है।

गंगा मेरे घर की जिंदगी है।
गंगा मेरी ओढ़नी है।।
गंगा मेरे दिल की दास्ता है।
गंगा मेरी मादरी जबां है।

अत: यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राही साहित्य के दुनिया में उस वट वृक्ष की तरह हैं जिसके डालों पर मन का पपीहा कौमी एकता की तान छेड़ता है। उनकी लेखनी में कहीं से पक्षपात नहीं है। उनका अंत: निर्मल और पावन है। उन्होंने कबीर की तरह हिंदू और मुस्लिम सम्प्रदाय के बीच व्याप्त सम्प्रदायवाद की समस्या को विस्तृत पैमाने पर रखते हुए कौमी एकता की सदैव कामना की है।

इसीलिए तो उनके मरने पर साहित्य सेवी सुदीप जी ने शोक संवेदना व्यक्त करते हुए कहा था कि उन जैसा धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति चिराग लेकर ढूंढने पर भी नहीं मिलेगा। वे आधुनिक वेद व्यास थे। □

*जापान में 11 फरवरी 1924 को जन्मे साइजी माकिनो 36 वर्ष की उम्र में एक बार भारत जो आए तो फिर यहीं के होकर रह गए। आए तो गांधीजी के सेवाग्राम में स्थित हिन्दुस्तानी तालीमी-संघ में पशु चिकित्सक के रूप में थे पर हिन्दुस्तान का ऐसा रंग चढ़ा कि फिर लौटने का मन ही नहीं हुआ। खादी क्या अपनाई सम्पूर्ण चिन्तन ही गांधीमय हो चला। सीधा-सरल व्यक्तित्व, व्यवहार में गज़ब की सादगी, आंखों से झांकती ईमानदारी। एक ऐसा व्यक्ति जिसे देखकर ही उसकी*

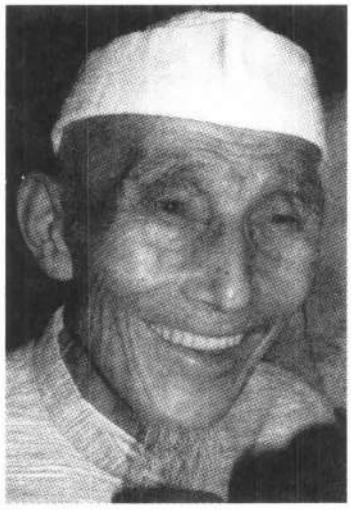

*निश्छलता, मेहनत और समर्पण का अंदाजा लगाया जा सकता है। 82 वर्ष की उम्र में भी कुछ और कर गुजरने की इच्छा, आकांक्षा। कन्धे सतत् संघर्ष से भले ही कुछ झुक गये हों पर इरादे अभी भी बुलन्द हैं। आइए मिलते हैं- महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इस अनन्य भक्त और हिन्दी प्रेमी साइजी माकिनो से।*

*यह मुलाकात दिल्ली में हिन्दी भवन द्वारा उन्हें 'हिन्दी-रत्न' से सम्मानित किए जाने के अवसर पर की गई।*

# हिन्दी विश्व-शांति की भाषा है !

## साइजी माकिनो *से* रत्नावली कौशिक *की बातचीत*

प्रश्न : **भारत आने के पीछे क्या विशेष उद्देश्य था?**

**उत्तर** : सन् 1958 की बात है। मुझे फुजिई गुरुजी ने वर्धा स्थित सेवाग्राम में आने का आमंत्रण दिया। वे 1931 से गांधीजी के सहयोगी थे और सेवाग्राम में ही रहते थे। यहां एक पशु-चिकित्सक की आवश्यकता थी। मैं भी उन दिनों अजीब-सी मानसिक स्थिति से गुजर रहा था और जापान में रहने का मन नही करता था। सोचा कुछ साल के लिए भारत चला जाता हूं। आज 45 वर्ष होने चले हैं। अब तो भारत ही मेरा घर है। बाद में फुजिई गुरुजी ने ही मुझे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के पास शांतिनिकेतन भेजा। शांतिनिकेतन में गुरुदेव के साथ रहकर जीवन का अर्थ और सोच की धारा ही बदल गई।

**हिन्दी सीखने और पढने का सिलसिला कैसे शुरु हुआ?**

अप्रैल 1959 में पंढरपुर सर्वोदय सम्मेलन के बाद बिनोवा जी ने मुझ से कहा कि मैं सेवाग्राम लौट कर हिन्दी सीखना आरंभ करूं और मैंने हिन्दी सीखना आरंभ कर दिया। उन दिनों सेवाग्राम के प्रेसीडेन्ट आर्यनायकम हुआ करते थे। उन्होंने आगरा के एक अच्छे हिन्दी शिक्षक को मेरे पास भेजा। मुझ जैसे विदेशी को हिन्दी सिखाना बड़ा मुश्किल काम था। मुझे खराब उच्चारण के लिए बहुत डांट पड़ती थी। पर धीरे-धीरे मैंने हिन्दी बोलना और पढ़ना सीख ही लिया। मेरी पत्नी 'युकिको' जिसे सेवाग्राम में 'सुजाता' नाम दिया गया था, हिन्दी सीखने के लिए 'वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' में भेज दिया गया। छह महीने तक हॉस्टल में रहकर हिन्दी पढ़ती रही। शायद जापानियों में वहीं हिन्दी की सर्वप्रथम छात्रा रही है।

**सेवाग्राम में रहकर तो आप चरखा चलाना भी सीख गये होंगे?**

गांधीजी की कर्मभूमि में दो साल रहने पर भी मुझे चरखे से सूत कातने की कला नहीं आई। गांधी भक्त के लिए इससे ज्यादा शर्म की बात और क्या हो सकती है? पर सेवाग्राम में गोशाला में इतना काम रहता था कि चरखे की तरफ ध्यान ही नहीं जाता था। आज मैं चरखे के महत्व को समझ सकता हूं बल्कि आज के युग में फिर से चरखे के प्रचार और प्रशिक्षण की आवश्यकता महसूस करता हूं।

**गुरुदेव टैगोर का साथ और शांतिनिकेतन का वातावरण एक जापानी व्यक्ति को कैसा लगा?**

गुरुदेव के व्यक्तित्व और शांतिनिकेतन के परिसर के प्राकृतिक सौन्दर्य ने मुझे इतना आकर्षित किया कि मेरा कही जाने का मन नहीं करता था। हिन्दी भवन के सामने वाले छात्रावास में रहकर केवल पढ़ता रहता था। शांतिनिकेतन का परिवेश इतना शांत था कि पुस्तकालय में बैठे हुए आप घड़ी की आवाज स्पष्ट सुन सकते थे। मैंने भी पवित्र भूमि शांतिनिकेतन को अपनी जीवन साधना का आधार बना लिया। समझ नहीं आता कि गुरुदेव के व्यक्तित्व ने वातावरण को इतना सुंदर बना दिया है या इतने शांत वातावरण ने ही गुरुदेव जैसे महापुरुष की रचना की है। जो भी हो-जमाना कितना भी बदल जाए पर शांतिनिकेतन की भूमि में विश्व की तमाम संस्कृतियों को समाये रखने की क्षमता हमेशा रहेगी। यहां की प्रकृति स्वयं यहां की पुरानी कहानियां सुनाती रहेगी। इसी भूमि में मुझे

*साइजी माकिनो का स्वागत करती हुई रत्नावली कौशिक*

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे महानुभावों से शिक्षा और प्रेरणा पाने का अवसर भी मिला।

**साइजी ये बताइये कि आपकी हिन्दी यात्रा की शुरुआत कैसे हुई?**

सच तो यह है कि हिन्दी की कृपा से मेरा जीवन चल पड़ा। वरना रोजमर्रा की जरूरतें पूरी करना मुश्किल हो जाता। उन दिनों ग्वालियर में बिड़ला फैक्टरी में जापानी तकनीक से एक फैक्टरी लगाई गई। जापानी इंजीनियरों को हिन्दी नहीं आती थी और फैक्टरी में काम करने वाले भारतीयों को जापानी। मुझे बुलाया गया और एक दुभाषिये के रूप में मैंने 400 रुपये महीने पर काम करना शुरू कर दिया। यहां मैंने चार साल काम किया और हिन्दी में बहुत से लेख लिखे जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए।

**क्या जापानी और हिन्दी साहित्य में कोई समानता है?**

दोनों का लोक साहित्य लगभग समान है। मणिपुर और राजस्थान की लोककथाएं जापान की लोककथाओं जैसी ही हैं। इसका कारण है कि जापान की संस्कृति चीन और भारत की मिश्रित संस्कृति है। मैं भारत को दादा और चीन को पिता मानता हूं। हिन्दी विश्व शांति की भाषा बने और मैं जीवनपर्यन्त इससे जुड़ा रहूं यह मेरी कामना है।

**जापान में हिंन्दी की क्या स्थिति है?**

जापान में भारतीयों और हिन्दी भाषा का बहुत सम्मान है। जापान की दो नेशनल यूनिवर्सिटी ओसाका और टोकियो में बी.ए और एम.ए. स्तर पर हिन्दी पढ़ाई जाती है। भारत के लिये यह गौरव का विषय होना चाहिये। यहां के लोग भी जापानी सीख रहे हैं। पहले यहां सिर्फ सर्टिफिकेट डिप्लोमा कोर्स था अब बी.ए. कोर्स भी है और हर साल बहुत लोग बी.ए. की परीक्षा में बैठते हैं। मेरा यह मानना है कि भाषा देशों को भावना के स्तर पर जोड़ती है। जापानी में संस्कृत शब्द भरे पड़े है। इन दिनों बंगाली भाषा भी जापान में जोर पकड़ रही है क्योंकि कोलकाता एशिया का दरवाजा है। एक समय में सबसे ज्यादा जापानी कोलकाता में ही रहते थे। अब तो पूरे देश में बिखर गये हैं।

**जापान में और कौन विशिष्ट लोग हिन्दी सेवा में रत हैं?**

प्रोफेसर दोइ ने टोकियो विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की स्थापना की। वे बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। प्रो. तोपियोतनाका ने भीष्म साहनी के *तमस* का हिन्दी अनुवाद किया है। प्रो. कोगा ने 'जापानी-हिन्दी शब्दकोश' की रचना की है। उन्होंने गांधीजी की आत्मकथा का जापानी में अनुवाद भी किया है। इसके लिए उन्होंने गुजराती भी सीखी। प्रो. मिजोकामी हर साल हिन्दी का एक नाटक तैयार करते हैं और उसका मंचन करने के लिए भारत आते हैं। प्रो. साकाता ने भी हिन्दी साहित्य पर बहुत काम किया है।

**आपने भी तो हिन्दी की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का जापानी में अनुवाद किया है?**

हां, मुझे भगवती चरण वर्मा का उपन्यास *चित्रलेखा* बहुत पसन्द आया इसलिए मैंने उसका जापानी में अनुवाद किया।

**इसके अलावा आपने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं?**

*टैगोर और गांधी : एक तुलनात्मक अध्ययन, जापानी आत्मा की खोज, भारत में चालीस साल पुनर्विचार और सिंहावलोकन* जैसी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। अभी एक पुस्तक की पाडुंलिपि तैयार हुई है, *भारत वर्ष में 45 साल, मेरी हिन्दी यात्रा*।

**आज की नई पीढ़ी जो पश्चिमी सभ्यता के पीछे भाग रही है। आप उनसे क्या कहना चाहेंगे?**

नई पीढ़ी अपनी सभ्यता-संस्कृति से दूर होती जा रही है, यह बड़े दुख की बात है। अपने देश को आगे बढ़ाने के लिए अपनी भाषा संस्कृति ही काम आती है। गुरुदेव टैगोर कहते थे कि अगर विश्व को आगे बढ़ाना है तो एशिया और यूरोप की मिश्रित संस्कृति अपनानी होगी।

**आप हिन्दी फिल्में देखते हैं?**

आज की फिल्मों में बहुत शोर-शराबा है। मुझे मीना कुमारी, नरगिस, सुनील दत्त और अशोक कुमार की फिल्में बहुत पसन्द हैं।

**कभी जापान की याद आती है?**

जापान जाकर मुझे अपना जापान नहीं मिलता। सब कुछ बदल चुका है। मुझे मेरा जापान मणिपुर जाकर मिलता है। मैं तो कहूंगा मणिपुर आज से 50 वर्ष पहले का जापान है। यहां का खाना-पीना, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार सब कुछ जापान से मिलता-जुलता है। मेरी बेटी तो बहुत सुंदर मणिपुरी नृत्य करती है।

**लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त आपके और कौन से शौक है?**

मुझे जापानी बागीचा लगाना बहुत पसंद है। जहां जाता हूं, फूल-पत्ती और पेड़ों के साथ दोस्ती कर लेता हूं। जगह-जगह पेड़ लगाता हूं। कुछ लोग जापानी फूल लगाने की कला भी सीखने आते हैं।

**अंत में कोई ऐसी बात जो आप हमारे पाठकों से कहना चाहें?**

जिस देश के पास गांधी, टैगोर और मां आनन्दमयी का मार्गदर्शन हो, उस देश को आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। मुझे हमेशा इस बात का खेद रहता है कि जितना भारत माता का नमक खाया उतनी उसकी सेवा नहीं की। भारत बहुत बड़ा देश है। उसका दिल भी बहुत बड़ा है। दुनिया का कोई देश उसका मुकाबला नहीं कर सकता। □

निबंध

# अपना घर

***मेरा लगाव मेरा घर है / यह कहीं और नहीं मिलेगा / अब इस ढलती उमर में दूसरा घर सजा भी तो नहीं पाऊंगी / इन पुराने बिस्तरों की धूल को मुझे ही झाड़ते रहना चाहिए / इन सब बातों को भूल भी जाऊं तो मेरे घर के देवता–पित्तर को अगियारी कैसे मिलेगी? अपनी परंपराओं और संस्कृति से जुड़ाव की बेचैनी को व्यक्त कर रही हैं*** **आशा रानी लाल**

इस घर में बस तीन ही प्राणी थे। पर ऐसा कहना या सोचना भी गलत ही है। हम दो बूढ़े तो थे ही, लेकिन परिस्थितिवश इधर कुछ दिनों से लीली भी आकर रह रही थी। यही नहीं कालू कुत्ता तो चैबीस घंटे दरवाजे पर ही बैठा रहता था, और वह पट्टू जो सवेरा होते ही सीता-राम, सीता-राम रटना शुरू करता था वह भी वहीं था। सभी तो इस घर के ही प्राणी थे। इस घर में सोने वाले चार कमरे थे, पर अक्सर तीन तो खाली ही पड़े रहते थे। इन कमरों में बिछे बिस्तरों को हमेशा किसी न किसी का इंतजार ही रहा करता था। वैसे प्रतीक्षारत बने रहना ही इन बिस्तरों का नसीब बन चुका था। नसीब तो हर एक का होता है, चाहे वह जड़ हो या चेतन।

मेरा नसीब भी कुछ ऐसा ही था जो हमेशा छटपटाता रहता था। घर में इतने सारे कमरे एवं बिस्तरों के रहते भी कभी चैन की नींद नहीं आ पाती थी। जब कभी घर की ओर नजर दौड़ाती तो लगता, बहुत समय बीत गया अभी दाई नहीं आई, पता नहीं आएगी भी कि नहीं? लगता है आज बर्तन अपने आप साफ करना होगा। खैर बर्तन तो साफ हो भी जाएंगे, पर घर की सफाई कैसे होगी? बदन ऐसा फैल गया है कि जमीन पर बैठा जाता ही नहीं। यह पोंछा लगाना भी कितना मुश्किल है। झाड़ू तो लगा नहीं पाती पोंछा क्या लगेगा, घर भी तो इतना बड़ा है। बाहर रहने वाले बच्चों को अपने इस टेन्शन की भनक भी न लगे, यह भी चिंता बनी रहती है। वे कहते हैं- घर रहना क्या जरूरी है। उन्हीं के पास इस बुढ़ापे में रहूं तो सारी चिंताएं मुझे मुक्त कर देंगी।

एक मैं हूं कि अपने घोंसले की आजादी छिनने नहीं देना चाहती। आखिर घर में दिया-बत्ती तो होनी ही चाहिए यह बात उन्हें कैसे समझा दूं, जिनको घर का कोई कन्सेप्ट ही नहीं है। वे जहां जाते हैं सरकारी घर या फ्लैट रहने को मिलता है। उनका घर तो हर दो-तीन साल बाद बदल भी जाता है और फिर नये घर को नये सिरे से नये पर्दे और नई टाइल्स लगाकर सजाया जाता है। उस घर की उजड़ी हुई बालकनी में नये-नये गमलों की हरियाली चहकने लगती है। ऐसे ही हरे-भरे घर में बस वे मिया-बीबी रहते हैं या उनके एक या दो बच्चे। इन बच्चों को पढ़ा-लिखाकर लायक बनाने में ही उनके जीवन की पूर्ण सफलता छुपी रहती है। ऐसा करने में ये बच्चे अपने पुराने बचपन को बिल्कुल भूल जाते हैं, कि वे तो ऐसे घर में रहा करते थे, जहां एक बिस्तर पर चार-चार लोग सोया करते थे। वे भूल जाते हैं कि उसी घर में उनके ममेरे-चचेरे और फुफेरे भाई-बहन ही नहीं, कुछ रिश्ते के बड़े-बूढ़े, दाई-नौकर, बीमार-विधवा तथा गरीब बाल-बच्चे सभी एक साथ पलते रहते थे और सभी का ध्यान इनकी मम्मी अर्थात मुझे ही रखना होता था। उस घर में किसी की पढ़ाई चलती थी तो किसी की दवा। कहीं बूढ़ों की सेवा की जाती थी तो कहीं पवनियों की आश्वयकताओं की पूर्ति। घर में कमाने वाले भले इन बच्चों के पापा ही रहते थे, पर उनकी कमाई पर हर एक का पूर्ण अधिकार बनता था, तभी आज इस चौथेपन में भी मुझे घर से प्यार है। बच्चों ने मेरे इस प्यार भरे माहौल से आजिज आकर कह दिया कि यही है आपकी नियति। आपको चिंताओं से प्यार हो गया है, तभी तो कहानी कहती हैं कि धोबी दस दिनों से नहीं आया, लगता है बीमार पड़ गया है। कपड़े उसके घर ही पड़े हैं दूध वाला अब नई गाय लायेगा, पुरानी वाली बिशक गई है, इसी से इन टूटे और कमजोर दांतों को रोटी से जूझना पड़ता है। दूध रहने से रोटियां उसमें गल जाती हैं, क्या करूं पुस्त-दर-पुस्त इसी ग्वाले से दूध लेती रही। छुड़ा तो सकती नहीं, दूसरे से लेना शुरू कर दूं तो वही नहीं उसका बूढ़ा बाप भी लाठी टेकते आ धमकेगा और कहेगा कि चार दिन की तो बात है कैसे इस घर में दूसरा आ धमका। इतने दिन का नाता अब आप जैसे बूढ़ों को भी स्वीकार नहीं तो इसको कौन सम्भालेगा।

अभी दो ही साल तो हुआ कि कपिल की शादी में लकुठी लेकर टेकते-टेकते महंगू डोम डाल-दउरा लेकर आया था। उससे चला नहीं जाता था फिर भी किसी और को यह काम करने का मौका नहीं दिया, और कहा कि जब तक जीयेंगे किसी और की नजर भी इधर नहीं आ पाएगी।

ये बच्चे लोग इन नाते-रिश्तों को क्या समझेंगे। अच्छा है वे शहरों में रहकर गुजर-बसर कर रहे हैं। उनकी माहबियत इन नातों से ऊबन-सी होने लगती है। वो तो हम हैं, जो इन उल-जलूल रिश्तों को निभाए जा रहे हैं। भले ही वे कह लें कि मुझे चिंताओं से या बेतरतीब जीने से ही प्यार है।

मुझे इन दकियानूसी विचारों के घर में रहना ही कबूल है और इसी उधेड़बुन में पड़ी-पड़ी घर के दक्खिन कमरे में उस दिन मैं पता नहीं कैसे फैल गई। सुबह से काम निपटाते-निपटाते पक ही चुकी थी, सोचा एकांत में इन सारी चिंताओं से दूर दस मिनट क्यों ना आंखें बंद कर लूं। वैसे भी गर्मियों का बादल बड़ा लुभावना होता है, जो लू को भी ठंडक में बदल देता है। बारिश की ठंडी हवा चलती हो, खिड़कियां खुली हों तो बिछे बिस्तर को देखकर लालच आ ही जाता है। और तब उन पुरानी स्मृतियों में डूबे मन का थोड़ी देर के लिए वहां अटकना तो स्वाभाविक है ही। मैं वहीं आंखे बंदकर

लेट गई- कि कमरे में लिली मुझे ढूंढती हुई उधर आई। उसने मुझे निहारा देखा मैं सो रही थीं वह गई और जाकर अपने फुफाजी को बता दिया कि- बुआ तो सो रही हैं। फूफा ने उसकी बातों पर एतबार नहीं किया। अविश्वास की रेखा उनके चेहरे पर दौड़ गई। तो चल दिए तहकिकात करने, तभी पास के घर से नाइन बयना लेकर आ पहुंची। उन्होंने स्वयं देखा मैं सो रही थी। मेरी आंखें बंद थीं, फिर भी मैं उनके पदचापों से भली-भांति अवगत हो गई। उन्होंने लिली को पैसा देते हुए बयाना ले लेने को बोला, और कहा कि बुआ को जगाना मत। लगता है रात को इनकी चिंताओं ने इन्हें सोने नहीं दिया है, वरना इस समय वो काहे को सोतीं। इनकी दया और सहानुभूति के शब्दों ने तो मुझे सही में सोने को बाध्य कर दिया। मैंने उकड़ू हुये पैर को सीधा फैला लिया। आंखों को ठीक से पहले ही बंद कर चुकी थी पर मुझे पता चल रहा था कि लिली मुझे सोती जान चौके में जाकर कुछ खुट-पुट कर रही है, फिर भी मैं सोती रही।

कितनी इनोसेंट, भोली-प्यारी बच्ची है यह लिली, अभी दो दिन पहले ही तो लड़के वाले लड़के के साथ इसे देखने आए थे। लड़के को उसका गोल-मोल होना रास नहीं आया। मेरी चिंता में एक और सामाजिक घृणा की कड़ी जुट गई, बिस्तर पर पड़ी-पड़ी आराम से उसी घटना को निहारने लगी। कल शाम बहू ने भी लिली की शादी की बात फोन पर जाना तो कह बैठी कि कोई बात नहीं, आप चिंता मत करें, समय आने पर सब कुछ हो जाएगा। वैसे आप तो इन लड़कियों के लिए ही बनी हैं। जब देखो एक न एक चिंता में डूबी रहती हैं, जैसे सारा ठेका आप ही का है।

बहू के इन प्यार भरे शब्दों ने मेरी सोच को और भी झकझोर दिया और मैंने ठीक से आंखें बंद कर ली कि सामने लिली आकर खड़ी हो गई, मेरा मन रोने लगा, इस बेटी के ब्याह का समय कब आएगा? मैंने अपने-आप से पूछा, लोग कैसे होते हैं इस विचार ने तो मुझे निढाल ही कर दिया। मैं नींद में नहीं थी, मेरे सामने मेरा छोटा भाई लड़खड़ा कर कह रहा था- "दीदी! एक भार, लिली का आपके ऊपर डालकर जा रहा हूं। मेरे जीते जी भी तो सब आप ही करती थीं पर इसकी शादी तो लगता है मैं अब देख भी नहीं पाऊंगा।" थोड़ी देर इन्हीं बातों में डूबी रही कि देखने लगी कि बारात आने का समय हो गया।

मंडप अभी ठीक से सजा भी नहीं है। मैं दौड़-दौड़कर सारी तैयारियों में जुटी पड़ी हूं, मेरा भाई भी खड़ा है और अब मेरी सारी चिंता दूर हो जाएगी। बहू ने तो कहा ही था कि समय आने पर सब हो जाएगा अब मेरी कोई जिम्मेवारी नहीं रहेगी मेरे बच्चे भी खुश हो जाएंगे मुझे खुश देखकर इसी बीच यह लिली कहां से आ गई इसने तो यह कहकर कि उठिए बुआ कब से सो रही है। अच्छा नहीं लगता, चलिए चाय बन चुकी है और फूफाजी ड्राईंग रूम में चाय पीने के लिए आपको बुला रहे हैं। इसने तो मेरा सारा सुख-स्वप्न ही लूट लिया।

मैं उठी नहीं आंखें बंद किए ही बोली जाओ न लिली तुमने तो मेरा दिल ही तोड़ दिया। मैं अब इन आंखों को कभी नहीं खोलूंगी। मुझे सोने दो। इस दुनिया में अच्छे लोग नहीं रहते। वे लोग लड़की देखने तो आते हैं पर यह कहकर कि सटिसफायड नहीं हैं, चले जाते हैं। मैं अब जीना नहीं चाहती, मुझे छोड़ दो। बुआ आप कितनी चिंतित हैं उठिए न चलिए फूफाजी के पास, चाय पीते हैं। ऐसी बातें मत बोलिए, आप नहीं रहेंगी तो मेरी शादी कौन करेगा। मैं उठ बैठी। मुझे बच्चों की बातें याद आ गई कि- मुझे तो चिंताओं से प्यार है तो इस बेचारी लिली का क्या होगा?

मेरे बच्चे ही मेरे बुढ़ापे की लकड़ी हैं। उनकी जिद के सामने, हमेशा मेरी हार होती रही है। उन्हें पुरानेपन से प्यार नहीं है। इन दुनियावी बातों से कोई मोह नहीं है। मैं हूं कि अपने पुराने घर की पुरानी स्मृतियों में ही तैरती रहती हूं। वे मुझको अपने नये घर में अपने पास रखकर मेरे बुढ़ापे को अच्छी तरह सजाना-संवारना चाहते हैं और मैं हूं कि लिली के जीवन में बहार इस पुराने घर में ही देखना चाहती हूं। उनके नये घर में मुझे वे लोग कहां मिलेंगे जो मुझ-सा सोचे, जिन्हें सांसारिक चिंताएं अपनी लगें। मेरी चिंता सांसारिक न भी हो, तो इस बिना बाप की बेटी लिली की चिंता तो मेरी अपनी है ही बच्चों के पास रहकर इस लिली के बारे में कितना और क्या सोचूंगी। वहां मैं किसको अपने मन का दर्पण दिखाऊंगी, जिसमें घर के दीया-बत्ती से लेकर पिंजड़े में पड़े तोते पट्टू और दरवाजे पर बैठे कालू-कुत्ते के कवरा की भी चिंता झलकती है और वहीं उस क्वांरी भतीजी लिली के मुखड़े की झलक भी दिखती है, जिस पर कभी-कभी वह कालिमा निखर उठती है जब उसे देखकर ना कहने वाले लड़के की परछांई छा जाती है।

नहीं मैं अपना घर छोड़कर कहीं नहीं जा पाऊंगी। क्या केवल अपने सुख के लिए। अभी-अभी जब सो रही थी, तो लिली के लिए कोई बारात लेकर आया था और वहीं उसके पापा भी खड़े थे। वह सपना नहीं था। वही सपना मेरे लिए सच्चाई बनेगा। वैसे समय हमारे पुस्त-दर-पुस्त के सभी पवनी भी खुश हो जाएंगे, क्योंकि लिली के ससुराल वाले सबके लिए कपड़े लाएंगे और पैसे देंगे। मैं कहीं बाहर नहीं जाऊंगी, यही इसी घर में उस बारात की प्रतीक्षा में बैठी रहूंगी। मेरा बुढ़ापा उसी दिन सजेगा जब दरवाजे पर बैठा कालू भी उस बारात में कवरा खा के अघा जाएगा। लगता है इस लिली के साथ भी आदमी जन और पवनियों के साथ-साथ कालू का भी नसीब जुट गया है। लिली जब लाल चुनरी में विदा होगी, तब फूफा जी के साथ-साथ सभी पवनी भी रोएंगे, कालू रोयेगा, पट्टू रोयेगा और इन सभी के आंसुओं के साथ मेरी चिंता भी बह जाएगी पर इन आंखों में एक आंसू बचेगा कि लिली के पापा उसके इस दुल्हन के रूप को नहीं देख पाएं। ऐसे समय मेरा मन कराहेगा, पर उस कराहने में मेरे बुढ़ापे का रंग चमक उठेगा।

अब मैं निश्चिंत हूं। मेरे बच्चे मुझे बुला रहे हैं। वे मेरे बुढ़ापे की खुशी में चार-चांद लगा देंगे। मेरी इस उमर की मजबूरियों के सहारा बनेंगे, पर मैं क्या करूं। इस जीवन के अंतिम छोर पर अपने इस लगाव को कैसे तोड़ दूं। ठीक है घर छोड़ दूं, पर बारह बरस के साथी इस पट्टू का क्या होगा, कालू क्या कहेगा। जो मेरे घर में बिना मुझसे पुछे किसी जीव-जन्तु को भी अंदर नहीं आने देता है। दरवाजे पर लगे इस आम और आंवला के पेड़ का क्या होगा जो अनायास मुझे फल देते रहते हैं। मेरे सारे पवनी, कहारिन, धोबिन, दाई, मिस्त्री, मजदूर इन सबके आसरे का क्या होगा। सबों से कुछ न कुछ तो कहना ही पड़ेगा कि मैं अब अपने बुढ़ापे में सुख लूटने के लिए अपने घर को, अपने लोगों को छोड़कर जा रही हूं। ऐसे समय मेरा मन घोड़े जैसा रुकेगा, हिनहिनाएगा और अकड़ेगा।

मेरा लगाव मेरा घर है। यह कहीं और नहीं मिलेगा। अब इस ढलती उमर में दूसरा घर सजा भी तो नहीं पाऊंगी। इन पुराने बिस्तरों की धूल को मुझे ही झाड़ते रहना चाहिए। इन सब बातों को भूल भी जाऊं तो मेरे घर के देवता-पित्तर को अगियारी कैसे मिलेगी? ये तो घर के बड़े-बूढ़े ही देते हैं। यह सब भी मेरी ओर ही टकटकी लगाए रहेंगे, तब क्या होगा? नहीं इनकी टकटकी ही मेरे बुढ़ापे का सुख होगा, इनका आसरा ही मेरा सहारा होगा और यही मेरा अपना घर होगा। □

## बदलाव का रास्ता

*बदलेंगी स्थितियां आहिस्ता,*
*समझेंगे लोग धीरे–धीरे,*
*शनैः शनैः ही सही*
*हवा का रुख बेशक पलटेगा,*
*धीमे–धीमे आंच सुलगेगी,*
*राख हो चुकी अंगीठी फिर दहकेगी।*

*एक दिन तमाम तमंचे*
*खोल में बंद होंगे,*
*तानाशाह उम्रकैद होंगे,*
*सिपहसालार सलामी मंच से नीचे*
*हाशिये पर उतरेंगे*
*बहेलिए जेलों में रखे जाएंगे*
*और चिड़ियों का हक बहाल होगा।*

*पता नहीं किस साल होगा,*
*मगर गम खुशहाल होगा,*
*अच्छी बातें और सही काम*
*हो जाएंगे तमाम*
*मगर किस्तों की कतार में*
*इस संसार में।*

*लेकिन कुछ नहीं बदलेगा*
*खुद–ब–खुद*
*कि जैसे कुछ भी नहीं बदलता*
*यकायक–*
*न मौसम, न ऋतुएं*
*न प्यार, न कविता*
*न बाजार, न तेजड़िए*
*और सियासत भी नहीं।*
*वही सच है हर कहीं।*

## सांझ जब आती है

*सांझ जब आती है*
*इस पहाड़ी शहर में*
*आदिम रिश्तों के खत बांटती हुई*
*डोरंडा पुल और बिरसा चौक पर*
*उतरती है,*
*श्यामली पार्क की घास पर*
*और सदर जेल के आंगन से*
*रांची क्लब के लॉन तक*
*पसर जाती है।*

*हर दिन आसमान का रंग*
*बदल जाया करता है यहां*
*मौसम के इशारे पर।*
*मगर यह शाम आती है हर रोज*
*कभी शोख और सजीधजी*
*कभी गुमसुम, कभी सीधी–सादी।*

*हजारों लोग रहते हैं*
*उस वक्त अपने रोजमर्रे के*
*कामकाज में, बाजार में, नजरबंद*
*ताजा खबरों से बेखबर।*

*उनको खबर नहीं मिल पाती*
*कि रोज बहने वाली हवा*
*कब गीले रूमाल सुखा देती है*
*और कैसे अनगिन उदास यादों को*
*थपकियां देकर सुला देती है*
*सखी जैसी शाम*
*जब वह आती है*
*इस पठारी शहर में।*

## रुमालों के बंदनवार

*अभी–अभी तो गुजरा है वह मौसम*
*जब पंडालों की महफिल सजी थी*
*और आसमान झंडों–पताकाओं से पटा था।*

*कैसा खुशनुमा था वह समां*
*कि भोंपुओं पर नारे गाए जा रहे थे,*
*हर डफली पर अपना राग का राज था,*
*सब्जबागों की हरियाली लुभाती थी*
*वोटरों को कोटरों में*
*और चुनावी महारथियों के पैंतरों पर*
*सस्पेंस और कोहरे का जाल था।*

*हाल यह फिलहाल है*
*कि अजब धमाल है, कमाल है!*
*कई हाथों के तोते उड़ चुके हैं*
*मगर सबके पास कोई न कोई सवाल है।*

*मगर कल जरूर उठेगा यह सवाल*
*कि बे जरूरत किसने किए इतने बवाल?*
*इतिहास का कातिब खोजेगा जवाब*
*कि कैसे ठिठक गया है इंकलाब!*

*कि उस सुर्ख परचम को काट–छांट*
*किसने बनाए दर्जनों रूमाल?*
*कि उस सुलगती अंगीठी को*
*जल समाधि कहां–कहां मिली?*
*और कैसे खुलेगी यह बंद अंधी गली!*

# जगतारजीत

पंजाबी के बहुचर्चित कवि जगतारजीत अपनी कविता की मौलिक छवि एवं प्रस्तुति के लिए जाने जाते हैं। अपनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति, अनुभव तथा महानगरी जीवन की विडंबनाओं ने उन्हें एक अलग ही पहचान प्रदान की है।

जगतारजीत ने अपने प्रथम काव्य संग्रह *जंगली सफर* के प्रकाशन के साथ ही पंजाबी काव्य की मुख्य धारा में अपना स्थान बना लिया था। वे कविता में बिंबों के जादूगर हैं। उनकी कृतियां पाठकों के मानस पटल पर एक अमिट छाप छोड़ जाती हैं। परिंदे, पेड़, पर्वत, प्रकृति की विराटता, झरनों की कलकल ये सभी उनकी कविता के अभिन्न अंग हैं तथा सृजन के प्रेरणा स्रोत।

कवि ने पंजाबी कविता को परंपरावादी एवं रुढ़ीवाद की बंधी-बंधाई चहारदीवारी से निकाल कर उसे नई दिशाओं की ओर अग्रसर किया है। विभिन्न आयामों को एक समग्र दृष्टि में समन्वय करने में वे अत्यंत सफल रहे हैं।

पंजाब भाषा विभाग तथा दिल्ली पंजाबी अकादमी से सम्मानित कवि की दूसरी काव्य कृति *रबाब* उनके कला-चिंतक तथा कवि के रूप की अंतरंग अभिव्यक्ति का सुंदर प्रगटीकरण है। जगतारजीत की तीन कविताओं का अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं **अमरजीत सिंह**

## गुलाब

*खाली मैदान में*
*खिले गुलाब ने*
*हाथ उठा*
*उड़ते जाते बादल को*
*तनिक रोक कर कहा*
*खुशबू से भरा मैं*
*तुम जल प्लावित*
*हम बचा सकते हैं*
*अस्तित्व अपना,*
*दोनों मिलकर*

*उड़ते–उड़ते*
*पीछे आती एक घटा से*
*बोला वह*
*विवश हूं मैं*
*नहीं रोक पाता स्वयं को*
*तेज हवा के झोंकों से*
*तू रुक जा..*

*देर तक*
*चलता रहा यह क्रम*
*और खिला गुलाब*
*न रोक पाया बादल को*
*गुजर गया कारवा....*

*उजली धूप में*
*बस शेष था*
*नीला आकाश*
*या मुरझाता पुष्प गुलाब का।*

## समुद्र

*एक पत्ता*
*आ बैठा मेरे कंधे पर*
*और बोला–*
*मैं जा रहा हूं*
*मेरी अंतिम अलविदा*
*पर न रुका मैं*
*बढ़ता रहा अपने ही पथ पर...*

*लौटती डगर में*
*था पीला समुद्र*
*बहता जल...*

*घर के सम्मुख*
*निर्वस्त्र वृक्ष*
*सुबह शाम*
*जो बढ़ता पल–पल*
*पहनी उसने धानी पोशाक*
*चिड़ियों का गुंजन*
*नृत्य की थाप*
*करती स्नान फिर लतिकाएं*
*हरे समुद्र में...*

## घर

*सागर तट पर*
*खेलता रेत से वह*
*घर बनाने का खेल*
*गोल छत के नीचे*
*नन्हे द्वार खिड़कियां*
*चहार दीवारी मनचाही....*

*रेत के पेड़*
*पक्षियों की डार*
*सूरज का उगना*
*होती दुनिया साकार*
*वह था इन सब का सृजक....*

*पर यह कैसी आवाज*
*चलो चलें अब घर*
*रात हो चली घनी*
*आओ लौट चलें....*

*विरक्त सा खडा मैं*
*विभाजित दो घरों में*
*सोच न पाऊं*
*किस ओर जाऊं...*

दो कविताएं : **बी.एम.डी.अग्रवाल**

## मैं और तुम

*प्यार की डोर से मत बांधो,*
*दूर रहने दो,*
*एक आसरा रहेगा*
*वरना टूट जाने का अंदेशा रहेगा।*

*विश्वास के साये में मत बांधो,*
*आत्मविश्वास में रहने दो,*
*एक स्वप्न रहेगा*
*वरना विषपान का भय होगा।*

*आंगन में कोई पौध को*
*उगने मत दो,*
*तुलसी को रहने दो,*
*एक शांत वातावरण रहेगा*
*वरना खींचतान का दर्द होगा।*

*रोज आने का निमंत्रण मत दो,*
*कभी–कभी का पाहुन रहने दो,*
*सुखद होगा, स्थायी रहेगा*
*वरना रिश्तों का मोल भाव होगा।*

*फूलों के बगीचे में*
*कांटों को मत आने दो*
*मौसम को बदलने दो*
*फूल खिलता रहेगा*
*वरना कांटा चुभता रहेगा।*

*दरिया में नेकी को मत रोको,*
*दरिया को बहने दो*
*तमन्नाओं का अहसास होगा*
*वरना पानी में बुलबुलों के*
*मिटने का अहसास होगा।*

*उम्र की ढलान पर*
*जीने का मोह मत दो*
*वक्त को आने दो*
*जिंदगी के उजालो का साथ रहेगा*
*वरना तुम्हारे संबल की*
*तलाश रहेगी।*

## दिल की बात

*दिल की बात,*
*जुबां पर आ गई,*
*तो गीत बन गए।*

*दिल के रूदन से धड़कन हुई,*
*तो सितार के स्वर बन गए।*
*दर्द का अहसास*
*आंखों ने किया,*
*तो आंसू बन गए।*

*वार सहते–सहते*
*फरियाद किया,*
*तो गुनहगार बन गए।*
*प्यार किया, दोस्ती किया,*
*तो बेनकाब हो गए।*

*मांग तो दिया, वापस मांगा,*
*तो बेआबरू हो गए।*
*उम्र की ढलान पर हाथ नीचे हुए,*
*तो बेसहारा बन गए!*

दो कविताएं : **कुहेली भट्टाचार्य**

## पिघलती रात

*मेरी रातें तनहा हैं,*
*रातों का अंधेरा गहरा है।*

*खिड़की से टपकती*
*थोड़ी–सी चांदनी,*
*क्या होता अगर*
*तुम भी साथ होते?*

*रात बढ़ती रहती*
*समय बहता रहता,*
*घड़ी की टिक–टिक*
*चलने के साथ–साथ*
*धड़कनें भी चलती रहतीं।*

*न तुम कुछ कहते*
*न मैं कुछ कहती,*
*तुम सुनते बहुत कुछ*
*बहुत कुछ मैं सुनती।*

*आमने–सामने बैठे,*
*मेज पर चाय के कप*
*धुआं उठता रहता,*
*तन्हाई में भी हम*
*तन्हा नहीं होते।*

*रात पिघलती होती,*
*हम कुछ न कहकर*
*बहुत कुछ सुनते।*
*क्या होता अगर*
*तन्हा इस रात में*
*मैं होती, तुम होते?*

## हथेली पर आकाश

*जिन्दगी से महरूम*
*एक जिन्दगी जी रही हूं मैं।*
*आकाश को हथेली पर*
*आज भी ढो रही हूं मैं।*

*सामने नीम के पेड़ पर*
*अब सफेद फूल खिलते नहीं,*
*और मैं...*
*कीचड़ के नीचे*
*सखत जमीन खोज रही हूं।*

*आम का वो पेड़*
*वैसा ही है*
*फल नहीं देता*
*हरी पत्तियां भी अब*
*टूट कर बिखरने लगीं हैं,*
*पर...*
*मैंने सुना है*
*पेड़ बूढ़े नहीं होते।*

*आम के पेड़ पर*
*फिर फल उगेंगे।*
*नीम का पेड़*
*फिर सफेद फूलों से*
*लद जायेगा।*
*शायद मैं रहूं!*
*या ना रहूं।*

चार ग़ज़लें : **रमेश चंद्र पंत**

### एक

*न हुए सब क्या हुआ कुछ लोग तो होंगे जरूर,*
*रोशनी के हर सफर में साथ कुछ होंगे जरूर।*

*चांदनी जब भी मिलेगी ओस में भीगी हुई,*
*खुशबुओं के काफिले कुछ साथ में होंगे जरूर।*

*फड़फड़ाएंगे परिंदे कांच घर में जब कभी,*
*दर्द से दुहरे यहां कुछ लोग तो होंगे जरूर।*

*बस क्या यदि राह में मिलता नहीं है हमसफर,*
*सिलसिले यादों के कुछ तो साथ में होंगे जरूर।*

*यंत्र में तब्दील होने जा रहे इस दौर में,*
*आदमी मुमकिन यहां कुछ लोग तो होंगे जरूर।*

### दो

*यहां मिलता नहीं कुछ भी कि नापो रास्ता बाबा,*
*यहां सब खुद में डूबे हैं कि नापो रास्ता बाबा।*

*नहीं उगता कभी भी दर्द कोई नील–झीलों में,*
*यहां सब अंधे–बहरे हैं कि नापो रास्ता बाबा।*

*बहुत बेचैन हो जाती है चिड़िया सांझ होते ही,*
*सहमकर वह दुबक जाती कि नापो रास्ता बाबा।*

*यहां सब जी रहे हैं आत्मा में ठोंककर कीलें,*
*भला इनसे मिलेगा क्या कि नापो रास्ता बाबा।*

*सभी कुछ जान–सुनकर भी कहां की बात करते हो,*
*बुतों की ये तो बस्ती है कि नापो रास्ता बाबा।*

### तीन

*क्यों इस तरह से गुमसुम बैठे हैं इस गली में,*
*लगता है कोई हादसा गुजरा है इस गली में।*

*पत्तों की थरथराहट कुछ ऐसे थम गई है,*
*जैसे बसी हो दुनिया पत्थर की इस गली में।*

*कमरों को बंद रहने की आदत–सी पड़ चुकी है,*
*सन्नाटा एक पसरा रहता है इस गली में।*

*हमने बहुत ही सोचा फिर–फिर विचारा इस पर,*
*लेकिन न कोई खिड़की खुलती है इस गली में।*

*बसते हैं लोग कैसे, कैसी है उनकी दुनिया,*
*कुछ भी समझ न पाया आकर के इस गली में।*

### चार

*जो समय की आंधियों से बच सके हैं,*
*कुछ वही किस्से किताबों में छपे हैं।*

*बुने थे स्वप्न जो मिलकर, वहां अब वे*
*तितलियों के पर किताबों में बचे हैं।*

*हाशिए पर जिए जो अब सुनहरे,*
*जिल्द से निर्मित किताबों में सजे हैं।*

*ऊब जाए मन बहुत तब देखना तुम,*
*मोरपंखी दिन किताबों में रखे हैं।*

*क्षण अबोले जो नहीं दिखते कहीं भी,*
*वे सभी मन की किताबों में लिखे हैं।*

## चलो चलें

**ओमप्रकाश सिंह**

*चलो चलें मेड़ों पर*
*खेत में पानी जगायें*
*बाग में अमरुद खायें*
*और फिर*
*जी भर नहायें।*

*गोद का बच्चा*
*चलो उस ट्यूबबेल पर*
*सुला देंगे*
*राह का गोबर उठाकर*
*क्यारियों में बहा देंगे*
*चलो चलें*
*आकाश के नीचे*
*नया घर*
*फिर बनायें।*

*धान के वे खेत*
*गन्ने के रसीले*
*आज झूलें*
*फिर गरीबी*
*एक सच इंसानियत का*
*उसे छू लें*
*चाहता इस बार*
*धरती पर कहीं*
*सोना उगायें।*

*भूख के आंगन*
*खड़े हैं ऋण महाशय*
*प्यार बोये*
*ब्याह धनिया का*
*करे अब कौन*
*यह बाजार ढोये*
*डोलती मर्यादा*
*कैस चलें घर–घर*
*बेच आयें।*

# लंपट

## अमर गोस्वामी

रेखांकन : संजीव शाश्वती

वह रोज ही गली के टूटे नल की तरह नजर आती थी पर सत्यप्रकाश ने कभी उस पर खास ध्यान नहीं दिया था। भला एक गंदी भिखारिन की ओर कोई क्यों ध्यान देता। वह बाजार में कुछ ही दिनों से दिख रही थी। पर किसी ने कभी उसे भीख मांगते नहीं देखा। उसके चेहरे पर कोई आकर्षण न होते हुए भी एक बार उसकी ओर नजर उठ ही जाती थी। सत्यप्रकाश के साथ जब ऐसा होता तो उसके मन में एक विचित्र अहसास घर कर जाता था। कभी उस गरीबिनी का कोई नाम रहा होगा। अब वह अनाथ थी। किसी को उसके बारे में व उसके घर के बारे में कुछ भी पता नहीं था। हो सकता है कभी उसका कोई घर न रहा हो, इस देश में लाखों लोगों को फुटपाथ के अलावा कोई घर नसीब नहीं रहता है। पर एक नाम तो होता ही है, जिस नाम को वह बचपन से ढोता रहता है। पर उसका नाम अब कौन बताता जिसे खुद अपना होश नहीं था। वह कुछ बताने लायक थी ही नहीं। जिसके चेहरे पर हमेशा ढलते सूरज की बुझती रोशनी नजर आती हो, उसपर किसी को नाम क्या नजर आता।

सत्यप्रकाश को भी वह इलाहाबाद की सड़क पर दिखी थी जिसके पथ पर कभी कवि निराला को कोई 'तोड़ती पत्थर' मजदूरिन नजर आयी थी। वाकई सड़कों पर ऐसा बहुत कुछ दिखता है जो यादों का हिस्सा बन जाता है। सत्यप्रकाश को भी काफी कुछ दिखा था पर यादों का हिस्सा वह अनामा बन गई।

अनामा के यादों में बस जाने का कारण था उसका बच्चा। बच्चे को देखकर लगता कि वह कुछ महीनों का ही है। अनामा हमेशा अपने बच्चे में खोयी रहती थी। सत्यप्रकाश ने उस बच्चे को कभी रोते हुए नहीं देखा। मां की गोद में वह चुपचाप खिलौने की तरह पड़ा रहता। कभी-कभी अपने नन्हें हाथ-पैर हिलाता। अनामा उसकी ओर देखकर कभी हंसती, कभी उसे हौले से थपथपाती, सत्यप्रकाश को उस बच्चे की ओर देखकर बड़ा आश्चर्य होता। उसे लगता, शायद यह दुनिया का सबसे समझदार बच्चा है। अपनी दरिद्र मां की तकलीफ को समझता है। बस वह कभी-कभी अपने हाथ-पैर हिलाकर गले से कुछ आवाज निकालता तो अनामा अपने बच्चे की जरूरत को समझ जाती। वह बच्चे के मुंह में अपना स्तन लगा

देती। बच्चा दूध पीने लगता। अनामा परम तृप्ति से उसकी ओर देखती रहती। बच्चा जब खुद ही उसके स्तन से अपना मुंह हटा लेता तब वह उसे इस तरह थपथपाती जैसे शाबाशी दे रही हो। कुछ देर तक इस तरह थपथपाते रहने से बच्चा सो जाता।

सत्यप्रकाश देखता जब अनामा अपने बच्चे में डूबी होती तब उसके लिए दुनिया का कोई अस्तित्व नहीं होता था। फुटपाथ से बेहतर कोई जगह अनामा के लिए नहीं थी। किसी और जगह उसे कौन बैठने देता। फुटपाथ भी कोई स्थायी जगह नहीं थी। वहां से भी वह अक्सर खदेड़ी जाती। कभी कोई दुकानदार अपनी दुकान के सामने उसके बैठे रहने पर ऐतराज करता तो कभी कोई सिपाही वहां आकर अनामा को डंडा दिखाकर भगाने की कोशिश करता और कभी शरारती बच्चे उसे कंकड़ मारकर परेशान करते। ऐसे प्रतिवादों पर कभी वह अपने गंदे दांत दिखाकर हाथ जोड़ देती कभी चुपचाप उठकर किसी ओर चली जाती तो कभी-कभी प्रतिवाद भी करती खासकर तक जब वह अपने बच्चे को प्यार कर रही होती या उसे दूध पिलाती होती। सत्यप्रकाश नजदीक ही रहता था। अनामा को परेशान करते हुए जब वह किसी को देखता तो वह आकर विरोध करता था। इस सिलसिले में कई बार ऐसे लोगों से उसकी जमकर कहा-सुनी भी हो जाती थी।

अनामा के प्रति सत्यप्रकाश की सहानुभूति का सबसे बड़ा कारण उसका बच्चा था। उस अबोध बच्चे को वह जब भी देखता उसकी करुणा छलक पड़ती थी। उसे देखकर सत्यप्रकाश को अपने बच्चे का खयाल हो जाता था। वह भी उस अबोध की उम्र का था। इसलिए वह जितनी बार उस बच्चे को देखता वह सिहर उठता और उसका दिल भारी हो जाता था।

अचानक ही अपने बच्चे से सत्यप्रकाश अनामा के बच्चे की तुलना करने लगता। सोचता, उसके बच्चे को भी ऐसी परिस्थिति में रहना पड़े तो क्या वह जी पाएगा? सोते समय भी अनजाने ही उस पर ऐसी ही चिंता सवार हो जाती थी। फिर उसे नींद नहीं आती थी। सत्यप्रकाश को कभी भगवान पर गुस्सा आता तो कभी देश समाज की व्यवस्था पर। अन्यथा किसी को पंखुड़ियों पर चलने वाली जिंदगी, तो किसी को ब्लेड की धार पर चलने वाली जिंदगी क्यों मिलती। सरकार को भी सत्यप्रकाश जी भरकर कोसता। सोचते-सोचते थक जाने पर सत्यप्रकाश अपनी पत्नी की बांहों में दुबककर सो जाता।

सत्यप्रकाश को सोचते हुए एक दिन एक पुरानी बात याद आ गई। जिस प्रकार अनामा का बच्चा सत्यप्रकाश की बेचैनी का कारण बन गया था उसी प्रकार कभी एक बूढ़ा भी उसे बेचैन बना जाता था। वह बूढ़ा भी, संयोग की बात लावारिस था। वह किसी फुटपाथ का वाशिंदा था, सत्यप्रकाश को यह पता नहीं था। पर वह अक्सर सत्यप्रकाश के पास याचक बनकर चला आता था।

सत्यप्रकाश उन दिनों बाहर के एक कालेज में पढ़ता था और एक कमरा किराये पर लेकर रहता था। उस भिखारी की आवाज में एक ऐसी कशिश थी कि सत्यप्रकाश ने जब पहली बार उसकी पुकार सुनी तो वह अनसुनी नहीं कर पाया और उसे दरवाजा खोलने पर विवश होना पड़ा था। बाहर आने पर उसे बड़ी हैरानी हुई। वह बुरी तरह चौंक गया। उसके सामने फटे-पुराने कपड़े पहने रूखी दाढ़ी वाला जो दयनीय अधेड़ व्यक्ति खड़ा था सत्यप्रकाश को क्षण भर के लिए लगा कि उस व्यक्ति से उसका कोई रिश्ता है। सत्यप्रकाश के कानों में सन्नाटा बजने लगा धूप के टुकड़े में उस व्यक्ति के चेहरे की हर झुर्री साफ नजर आ रही थी। वह बीमार नजर आता था। उसके चेहरे पर ऐसा अवसाद विद्यमान था जो देखने वाले को अपनी लपेट में ले लेती थी।

सत्यप्रकाश को याद आया उन दिनों ऐसा ही चेहरा उसके पिता का भी हो गया था। निराशा की झाड़-झाड़ियों से घिरा। उन दिनों वे बहुत बीमार रहते थे। दाढ़ी न बनाने के कारण उनका चेहरा काफी अस्त-व्यस्त लगता था। उनके व्यवहार से लगता था कि उनमें जीने की इच्छा खत्म हो गई है। आंखें थकी हुए और कीचड़ के पोखर की तरह लगती थीं। सत्यप्रकाश को जब भी अपने पिता के ऐसे चेहरे से सामना होता वह कांप उठता था। अवसाद सांप की तरह सरककर उसके सीने पर आकर अपनी ठंडी चुभन देते हुए कुंडली मारकर बैठ जाता था। उन दिनों पूरा घर उसके पिता की संभावित मौत के साये में सिमटा हुआ नजर आता। सभी को ऐसा लगता कि जल्दी ही कुछ निराशाजनक होने वाला है।

उस याचक को देखकर सत्यप्रकाश को अचानक लगा कि वह दयनीय मूर्ति उसके पिता की है। शायद दयनीयता सभी के चेहरों पर एक जैसा प्रभाव डालती होगी। सत्यप्रकाश बहुत दुखी हो गया उसे झूठ ही सही पर लगा कि सामने अकाल की तरह पसरा हुआ हाथ उसके पिता का है। सत्यप्रकाश का मन हुआ वहां से भाग जाए। कमरे में आकर दरवाजा बंद कर ले।

खीजे हुए सत्यप्रकाश ने पूछा, "तुम कौन हो?"

याचक ने कांपते हुए गले से कहा, "बाबू बहुत भूखा हूं। कल से कुछ नहीं खाया।" उसने एक बार फिर अपना मुंह और हाथ पसार दिया।

सत्यप्रकाश ने चुपचाप अपनी जेब में हाथ डाला और उसकी जेब में जो कुछ भी पैसे पड़े हुए थे, निकालकर उस भिखारी को दे दिया। फिर झटके से अपने कमरे में जाकर दरवाजा बंद कर दिया। पैसे लेते समय भिखारी ने क्या कहा यह उसने सुना नहीं। उसने तो सिर्फ अपने को मुक्त करने के लिए पैसे दिये थे। भिखारी के चले जाने के बाद भी सत्यप्रकाश की असहजता बनी रही। इसके बाद तो यह क्रम बन गया। अब वह भिखारी अक्सर आने लगा वह आता और एक दयनीय पुकार के बाद कांपता हुआ सत्यप्रकाश के दरवाजे पर डट जाता, जैसे कि सत्यप्रकाश जाड़े की रातों में उसके लिए जलता हुआ अलाव हो। उस भिखारी की आवाज सुनकर सत्यप्रकाश को अपने बीमार पिता का मुर्झाया चेहरा याद आ जाता। तब उसके चेहरे पर अवसाद की कूंची फिर जाती। उस भिखारी से झटपट छुटकारा पाने के लिए उसके पास जो पैसे होते उसे देकर हाथ जोड़ लेता था। भिखारी अशीर्वाद देते हुए चला जाता। सत्यप्रकाश को उसके जाने के बाद राहत का एहसास होता।

भिखारी ने भी सत्यप्रकाश के मन में छिपी करुणा को समझ लिया था। उसके लिए सत्यप्रकाश शायद सहारा बन गया था। इसलिए उसका जब मन होता वह सत्यप्रकाश के कमरे के बाहर आकर गुहार लगाने लगता था। हर बार वह कांपते गले से उसे पुकारता और जब तक सत्यप्रकाश उसके सामने नहीं आ जाता था, वह परम धैर्य से उसे आवाज लगाता रहता। सत्यप्रकाश से भीख लेना जैसे उसका हक बन गया था। सत्यप्रकाश उससे इंकार भी नहीं कर पाता था क्योंकि उसे देखते ही सत्यप्रकाश के मन में हाथ पसारे अपने पिता की छवि कांप जाती थी। उस भिखारी को कुछ देकर उसे झटपट अपने दरवाजे से भगाना सत्यप्रकाश की विवशता बन गई थी। भिखारी के चले जाने के बाद थके कदमों से कमरे में आकर वह अपनी कुर्सी पर धंसती दीवार की तरह बैठ जाता।

सत्यप्रकाश के मन में कई दिनों तक अपनी मुक्ति के लिए अंतर्द्वंद्व चलता रहा। पहले उसने

सोचा इस कमरे को ही वह छोड़ दे या फिर कुछ दिन किसी दोस्त के यहां ही रह ले। पर इसमें सत्यप्रकाश को अपनी कायरता ही नजर आती थी। आखिर उसने एक दिन उस भिखारी को कुछ रुपये थमाकर कहा, "बाबा, अब तुम मुझे माफ करो। तुम्हारे आने से मेरी पढ़ाई में दिक्कत होती है। सर पर इम्तहान आ गया है। मेरा भला चाहते हो तो अब यहां कभी मत आना।"

उस भिखारी ने कुछ महसूस किया। उसका सिर झुक गया। आंखों से आंसू बह निकले। फिर वह सत्यप्रकाश को आशीर्वाद देकर वहां से चला गया। फिर वह दुबारा कभी नहीं आया। बाद में सत्यप्रकाश को काफी दिनों तक इस बात का आफसोस होता रहा।

सत्यप्रकाश को अपनी एक आदत पर हमेशा खीज आती थी कि आखिर उसे ही क्यों किसी पीड़ित व्यक्ति में अपने किसी प्रिय व्यक्ति का चेहरा नजर आता था। जाहिर है तब न चाहते हुए भी ऐसे लोगों के साथ उसकी सहानुभूति जुड़ जाती थी। ऐसी ही मानसिकता में सत्यप्रकाश को किसी फुटपाथ पर रहने वाले का दुख-दर्द अपने किसी करीबी का दुख-दर्द लगने लगता था।

सत्यप्रकाश ने खुद से पूछा, "ऐसा क्यों होता है मेरे साथ?"

"तुम कठोर नहीं हो।" आवाज आयी।

"तो?"

"कठोर व्यक्ति व्यावहारिक हो सकता है। पक्का दुनियादार।"

"दुनियादार?"

"हां, वह अपने को बचाने में माहिर होता है। वह अपनी हानि नहीं करता ?"

"कैसी हानि?"

"वह अपने दुखों को बढ़ाता नहीं। वह औरों के दुख में अपने को लोटता नहीं।"

"दुख में शामिल होना बुरी बात है?"

"अपने को महापुरुष होने का भ्रम मत पालो।"

"मुझे यह भ्रम नहीं है।"

"अपने को समेटकर रहो, सुखी रहोगे।"

सत्यप्रकाश ने सवाल पूछना बंद कर दिया। उसकी आत्मा ने ऐसी कोई, राह नहीं दिखायी जहां उसे उजाला नजर आता है सत्यप्रकाश अब वाकई भ्रमित हो गया था। उसका विवेक इस बात को स्वीकारने को तैयार नहीं था कि जिंदगी सिर्फ चतुराई का नाम है। उसने ऐसे लोगों को भी अपना दुख बढ़ाते हुए देखा था। वह अपना जीवन किसी चतुर के बताये निर्देशों के अनुरूप गढ़ना नहीं चाहता था। सत्यप्रकाश यही समझता आया था कि अपना स्वार्थ भी दुख उपजाता है। वह दूसरे के प्रति सहानुभूति को भी दुख मानता था। सहानुभूति अच्छे काम के लिए भी प्रेरित कर सकती थी। वह कई बार सोचता कि जिंदगी में सुख वह काम नहीं कर सकता जो दुख कर देता है। दुख चुनौती बनकर आता है जिससे निपटने के बाद कोई उपलब्धि हाथ लगती है। शायद वही संतोष हाथ लगता जिसे संत धन की संज्ञा दे गए हैं।

अपने पिता जैसे चेहरे वाले उस भिखारी के जाने के बाद भी सत्यप्रकाश को महीनों तक चैन नहीं आया। हालांकि इस बीच कई बार घर जाकर वह अपने पिता को देख आया था। वह हर बार नाई बुलाकर अपने पिता के चेहरे को सांस्कृतिका बना देता था। चेहरे पर छायी अपसंस्कृति को मिटा देता था। तब उनका चेहरा मलने की सफाई के बाद आंगन में अंकुरित जीवन की तरह नजर आने लगता। मगर सत्यप्रकाश के जाने के बाद पिता फिर पहले की तरह दयनीय नजर आने लगते। सत्यप्रकाश को पिता पर उतना गुस्सा नहीं आता जितना उनकी दयनीयता को देखकर। उसे चिढ़ होती कि पिता उस भिखारी जैसे लगने पर क्यों तुले हुए हैं। वे पिता की तरह क्यों नहीं लगते? क्यों नहीं वे नये छाते की तरह लगते? क्या पिता का सर्वहारा लगते रहना ही पिता होना होता है? कोई भी पिता अपनी संतानों को सामने दयनीय बने रहना क्यों पंसद करता है? क्या वह एक उम्र बीतने के बाद-सर्वहारा हो जाता है?

हां, हो जाता है। सत्यप्रकाश की आत्मा के अंधेरे से आवाज आयी। सिर्फ पिता ही क्यों, मां भी सर्वहारा हो जाती है। पर होने और दिखने में फर्क है, सत्यप्रकाश ने खुद से कहा। पर सत्यप्रकाश इस सवाल का जवाब नहीं दे पाया कि अगर वह दिखती है तो वाकई क्यों नहीं हो सकती? जिसका निजत्व खत्म हो गया हो और अपनी अंधेरी बन गई रातों में संभावना का कोई सितारा नहीं दिखता, उसे तो सर्वहारा होना ही होता है। सर्वहारा सिर्फ धन से ही नहीं होता, मन से भी होता है।

गनीमत थी कि सत्यप्रकाश को उस भिखारिन में अपनी मां का चेहरा नजर नहीं आता था। फिर भी वह मां थी। सत्यप्रकाश की सहानुभूति के लिए इतना काफी था। अनामा के बच्चे के लिए वह चिंतित रहता था। बच्चा अबोध तो था ही, सत्यप्रकाश को उसकी मां भी अबोध लगती थी। सत्यप्रकाश को लगता कहीं वह अपने ही बच्चे का नुकसान न कर दे। अनामा अपने मुंह से कभी किसी से मांगती नहीं थी, बस कभी-कभार किसी दुकान के आगे खड़ी हो जाती थी। दुकानदार उसे दुर-दुराकर भगा देते, खासकर जब कोई ग्राहक वहां पर खड़ा होता। उसे देखकर ग्राहक भी बिदकते थे। आखिर ग्राहकों का भी क्या दोष था। गंदी रहने के कारण अनामा की देह से दुर्गंध जो आती थी। देह को स्वस्थ और सुगंधित रखना उसके लिए विलासिता थी।

लेकिन ऐसे ही फटे चिथड़ों वाली अनामा से फुरसत में दुकानदार कुछ अलग तरह से पेश आते थे। तब वे उसे दुत्कारने के बजाय पुचकारते और पतेहश इशारे करते थे। कोई-कोई तो उसे अपने पास बुलाकर राजदार आवाज में पूछता-

"यह बच्चा किसका है? उस सिपहिया का है क्या?"

"मेरा", अनामा अपने बच्चे को सीने में छिपाते हुए कहती।

"हां, हां तेरा ही है। मगर मैं पूछ रहा हूं इसका बाप कौन है?" दुकानदार खी-खी करके हंसता।

अनामा फिर कहती "मैं हूं।"

"कल रात को कहां गई थी, अपने यार के पास? कौन है वह?"

अनामा खिलखिला उठती। दुकानदार खीजकर कहता, "भाग यहां से पगली कहीं की।"

किसी दुकानदार ने एक दिन सड़क से गुजरते हुए सत्यप्रकाश की ओर इशारा करके अनामा से पूछा था, "वह बाबू तेरा बड़ा ख्याल रखता है, वही तेरा यार है, इस बच्चे का बाप?"

उस दिन अनामा बहुत गुस्से में आ गई थी। कुछ देर तक वह न जाने क्या बड़बड़ाती रही। फिर जोर-जोर से रोने लगी। उसे रोते देखकर वह दुकानदार बेशर्मी से हंसने लगा।

ज्यादातर लोग उसे इसी तरह छेड़ते। जैसे यह उनका हक था। अनामा को रुआंसा देखकर उन्हें बड़ा मजा मिलता था। अनामा के स्त्रीत्व के चिथड़ों की दिनोंदिन चिंदिया बिखेरते जाना, उनका मनोरंजन था। कभी-कभी मोहल्ले में कोई दया करके अनामा को रोटी खिला देता या उसके आगे

सिक्के फेंक देता। उनकी करुणा इतने तक ही सीमित थी।

एक दिन अनामा के बर्तन में किसी ने एक मुट्ठी आटा डाल दिया। अनामा की समझ में नहीं आया वह क्या करे। आटे से वह रोटी कैसे पकाती? वह आटा इतनी मात्रा में था भी नहीं। आटा काफी देर तक उसके पास यूं ही पड़ा रहा। फिर जब उसे भूख लगी तो वह कुछ दूर स्थित मंदिर के अहाते में मौजूद नलके पर चली गई और उस आटे में पानी डाल लिया। वह उसे सानकर कच्चा ही खाने लगी। उसे इस तरह खाते देखकर कुछ लोग हंसने लगे, कुछ ने नाक-भौं सिकोड़ा। उस मंदिर से एक औरत प्रसाद चढ़ाकर गुजर रही थी। अनामा को इस तरह खाते देखकर उसे दया आ गई। वह प्रसाद के दो केले अनामा को देकर बोली, "ले ये केले खा ले। कच्चा आटा मत खा। तू तो वाकई बावली है। तेरी तबीयत खराब हो जाएगी तो तेरे बच्चे को कौन देखेगा?"

वह बच्चा भी विचित्र था। हमेशा खामोश रहता। आंखें खोले रहता तब भी कभी-कभी ही रोता। रोता भी तो अनामा के लिए समझना मुश्किल होता कि वह क्यों रो रहा है। वह बस उसे थपकियां देना ही जानती या अपना दूध पिलाना। बच्चे की तकलीफ में वह उसे एकटक देखने या सीने से लगाने के अलावा और कुछ नहीं कर पाती थी। हां उसे दूसरों की तरह उचटती नजरों से नहीं देखती थी उस चिथड़ों में लिपटे बच्चे के लिए उसकी आंखों में अपार ममता थी।

सत्यप्रकाश ने अपनी पत्नी से कह-सुनकर अपने बच्चे के फालतू कपड़ों में से कुछ कपड़े अनामा के बच्चे के लिए उसे दे दिया। सत्यप्रकाश की पत्नी ने शुरू में अनाकानी की थी। अपने बच्चे के कपड़े किसी भिखारी के बच्चे को देने से मना कर दिया था पर सत्यप्रकाश के समझाने पर उसे समझौता करना पड़ा था। देते समय उसने बच्चे के कपड़ों को कैंची से थोड़ा-थोड़ा काट दिया था। उसे विश्वास था कि इस तरह उसके बच्चे का कोई अनिष्ट नहीं होगा और कोई भी उन कपड़ों के जरिये टोना-टोटका नहीं कर पाएगा। अपने बच्चे के लिए हमेशा आतंकित रहने वाला मां का मन था। अपने बच्चे के कुछ कपड़े हासिल कर लेने के बाद सत्यप्रकाश की इच्छा थी कि अपनी पत्नी की कोई पुरानी साड़ी भी अनामा को दे दे। पर पत्नी से यह बात कहने की हिम्मत सत्यप्रकाश की नहीं पड़ी। किसी अभागे बच्चे के नाम पर अपनी पत्नी की ममता को तो वह जगा सकता था पर किसी दूसरी औरत के लिए, भले ही वह कितनी दयनीय हो, सत्यप्रकाश के लिए अपनी पत्नी की सहानुभूति हासिल करना बहुत कठिन था, बशर्ते वह खुद ही इसके लिए राजी न हो।

सत्यप्रकाश के लिए इतना ही संतोष काफी था कि उसने एक बच्चे के नंगेपन को ढकने का इंतजाम कर लिया है। सत्यप्रकाश के दिये कपड़े अपने बच्चे को पहनाकर अनामा इतनी भावविह्वल हुई कि वह रोने लगी। सत्यप्रकाश विचित्र स्थिति में फंस गया। बहरहाल उसने अनामा को अपनी तरह से ढाढस देने की कोशिश की। उसे ऐसा करते देखकर किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति ने विद्रूपता से अपने साथ के पढ़े-लिखे व्यक्ति से अंग्रेजी में कहा कि जरा देखो यह नजारा! सत्यप्रकाश बाबू अपने बेटे की रुठी हुई मां को मनाने की कोशिश कर रहे हैं।..दोनों जोर से ठहाका लगाकर हंसने लगे।

दूसरे व्यक्ति ने कहा, "अपने मोहल्ले का यह सत्यप्रकाश भी बहुत बड़ा लंपट है। अपने को गरीबों का मसीहा समझता है।"

"मुझे तो यही उस भिखारी के बेटे का बाप लगता है। और कौन हो सकता है?"

"छोड़िए भी। जाहिर है कोई लंपट ही होगा। पूरा देश ही लंपटों से भर गया है।"

"एकदम ठीक बात।"

फिर वे हंसने लगे। उनके ठहाके से एक कुत्ता चौंककर आसमान की ओर थूथन उठाकर भौंकने लगा।

उन दोनों भद्र पुरुषों ने मान लिया कि लंपटों से भरी इस दुनिया में वे लंपट होने से बच गए हैं। संतुष्ट होकर वे अपनी-अपनी राह पर चले गए।

एक दिन रात में खूब बारिश हुई। इतनी कि ठंड महसूस होने लगी। इधर कुछ दिनों से गर्मी खूब पड़ गई थी। लोगों को राहत महसूस हुई। लोगों ने रात में मूसलाधार बारिश का स्वागत किया और अपनी उम्र के अनुसार उसका आनंद लिया। आधी नींद में मूसलाधार बारिश ने जब पत्नी पास हो, कितनी सुखद होती है। बारिश की ऐसी रातें पत्नियों को भी हरा-भरा कर देती हैं।

अगली सुबह सत्यप्रकाश अपने दो-चार दोस्तों के साथ अपने परिचित हलवाई की दुकान पर चाय पीने बैठा हुआ था। यह उसका रोज का नियम था। चाय की दुकान और हलवाई की दुकान एक ही थी। हलवाई के यहां सुबह से ही पूड़ियां छनने लगती थीं। इसके साथ ही कड़क जलेबी भी तैयार होती। पूड़ियों के अलावा दही-जलेबी लोगों का पसंदीदा नाश्ता था। लोग खरीद कर घर ले जाते। इसलिए सुबह होते ही हलवाई की दुकान में रौनक हो जाती थी। सत्यप्रकाश जैसे कुछ लोग, जिनमें नौजवानों के अलावा बुजुर्ग भी होते थे, चाय पीने दुकान पर चले आते थे। आने का सबसे बड़ा कारण यह था कि उनके घरों में चाय का चलन कम था। सत्यप्रकाश की पत्नी तो चाय को छूती भी नहीं थी। चाय उसे बेस्वाद लगती थी। चाय पीने वाले दुकान में आते तो लगे हाथ नाश्ता भी कर लेते थे। उनके बाप झींकते, लौंडों का मन घर के नाश्ते में लगता ही नहीं। साले सब चटोर हो गए हैं।

अचानक सत्यप्रकाश गल्ले पर बैठे हलवाई की तेज अवाज से चौंका, "अरे यहां सिर पर क्यों चढ़ी आ रही है? हम सबका धर्म भ्रष्ट करेगी क्या?"

सत्यप्रकाश ने देखा, डांट खाने वाली अनामा थी। मां और बच्चा दोनों ही बुरी तरह भीग गए थे। ठंड से कांप भी रहे थे।

"अरे, यह तो पूरी भीग गई है, बच्चे को निमोनिया न हो जाए?" सत्यप्रकाश के किसी परिचित ने कहा। सत्यप्रकाश ने हलवाई को डांटा, "अबे एक लाचार औरत बच्चे सहित ठंड से कांप रही है और तू बड़का बाभन बना हुआ है। उसे भी चाय पिला। एक कुल्हड़ में थोड़ा-सा गर्म दूध बच्चे को पिलाने के लिए भी उसे दे दे। पैसा मुझसे ले लेना?"

हलवाई ने मुस्कराकर कहा, "बड़े दरियादिल बन गए हो सत्तू भैया।"

सत्यप्रकाश ने कहा, "अब तुम को क्या जवाब दें। मेरी बाप की उम्र के हो चचा समझते हैं तुम्हें। बस एक बात कहते हैं समझ लो। जिंदगी में जब भी मौका मिले किसी गरीब का भला कर दिया करो। मदद करने वाले का कुछ बिगड़ता नहीं। मरने के बाद ऊपर वाले को तुम्हें ही जवाब देना पड़ेगा। वहां सिफारिश नहीं चलती न तुम्हारी जलेबी काम आने वाली जिसका इतना ढिंढोरा पीटते हो।"

हलवाई ने अनामा को चाय पीने को दिया। अनामा चाय खूब गर्म होने के बावजूद पानी की तरह पी गई। चाय देखकर बच्चा भी हाथ पैर मारने लगा। वह भी उसे पीना चाहता था। हलवाई ने एक कुल्हड़ में बच्चे के लिए दूध भी दिया। अनामा उसे लेकर जब मुड़ी तो किसी ने अपना गमछा उसकी ओर फेंकते हुए कहा, "ले इससे अपने और बच्चे

की देह पोछ लेना।'' दूसरे ने कहा, ''उस दीवार की तरफ चली जा। उधर धूप है। बच्चे को धूप में लिटा दे।''

हलवाई ने सत्यप्रकाश से कहा, ''यह पगली तो जब-तब दुकान के सामने आकर खड़ी हो जाती है भैया! हमारी जान की दुश्मन बन गई है।''

''कुछ तो शर्म करो साव! कभी तो उसे कुछ देते देखा नहीं। एक लाचार औरत से क्या परेशानी!'' वहीं बैठे किसी व्यक्ति ने व्यंग्य किया।

सत्यप्रकाश ने कहा, ''चाचा, रोज एक कुल्हड़ चाय उसे पिला देने से तुम्हारा कुछ घट नहीं जाएगा बल्कि मन को संतोष ही होगा। बच्चे के दूध का पैसा मुझ से ले लिया करना। उससे बुरा व्यवहार करोगे तो हमलोग तुम्हारी दुकान पर बैठना बंद-कर देंगे।''

हलवाई ने कहा, ''नाराज मत हो भैया! चाय के कितने उधार के पैसे हमारे यूं ही मारे जाते हैं। समझ लूंगा ऐसी ही एक उधारी यह भी है।''

किसी ने कहा, ''देख लिया साव का दिल, घाटे की उधारी चढ़ाएगा पर सदाव्रत नहीं करेगा।''

लोग हंसने लगे। हलवाई अनदेखी करके ग्राहक से पैसे लेने में व्यस्त हो गया।

अचानक एक दिन अनामा गायब हो गई।

शुरू में किसी ने ध्यान नहीं दिया। सत्यप्रकाश ने भी नहीं। उसने सोचा, इधर-उधर कहीं चली गई होगी। कहीं और जगह बैठी होगी। आ जाएगी। पर कई दिन बीत गए, वह नहीं आयी। फुटपाथ पर जहां वह बैठी रहती थी वहां सन्नाटा पसर गया। हालांकि फुटपाथ पर हमेशा भीड़ रहती थी, मोहल्ले की व्यस्त जगह थी वह, लेकिन अनामा के न होने से वह जगह खाली-खाली दिखती थी। वे दुकानदार भी कुछ अजीब-सा महसूस करने लगे जो अक्सर उसे दुत्कारते रहते थे। उसके प्रति एक लापरवाह चिंता को सभी महसूस कर रहे थे।

दिन जितने ज्यादा सरक रहे थे उसे लेकर अटकलों का बाजार भी ठंडा पड़ता जा रहा था। लोगों के पास चर्चा करने के लिए और भी अब मुद्दे थे। अनामा से ज्यादा जरूरी मुद्दे। अच्छा हुआ मोहल्ले को एक गंदी भिखारिन से मुक्ति मिली। एक लावारिस जैसे बच्चे से भी।

अचानक एक दिन की शुरूआत कुछ अलग-सी हुई। धूप हलवाई के चेहरे की तरह खिली हुई थी। उसकी सफेद जाजिम दूर-दूर तक

बिछी हुई थी। मकानों के छज्जे धूप के ताप से गुनगुने हो रहे थे। पूरी नींद से जगा हुआ मन तरोताजा होकर नये दूल्हे-सा महसूस कर रहा था। मोहल्ले की हलवाई और चाय की दुकानों पर कचौरी-जलेबी और नमकीन की महक लोगों को कीर्तन की तरह अपनी ओर खींचने लगी थी। चाय की भाप से लोग राहत महसूस कर रहे थे। तभी कुछ की नजर थकी-थकी-सी आती हुई अनामा पर पड़ी।

सत्यप्रकाश रोज की तरह दोस्तों के साथ परिचित हलवाई के यहां बैठा था। आपस में कोई बहस चल रही थी। सत्यप्रकाश उसी में उलझा हुआ था इसलिए उसने बाद में देखा। और देखते ही वह एकाएक सिदर उठा। अनामा की गोद में उसका बच्चा नहीं था। उसके मुंह से निकला, ''वह उस तरह अकेली क्यों आ रही है?''

वाकई! वह दुबला-पतला अपनी मां की गोद में हरदम मौन पड़ा रहनेवाला, मां के दर्द को महसूस करने वाला वह बच्चा कहां था? कहां छोड़ आयी वह उसे? कहीं कोई अनहोनी तो नहीं घट गई? सत्यप्रकाश को अचानक अपना बच्चा याद आ गया। वह व्याकुल होकर उठ खड़ा हुआ। वह तेजी से उधर बढ़ा जहां अनामा अब दीवार की धूप से टेक लगाकर बैठी हुई थी। इस बीच वहां पर मोहल्ले के कुछ और लोग भी आ गए थे। एक छोटी-सी भीड़ ने उसे घेर लिया था। सत्यप्रकाश ने देखा, अनामा बहुत कमजोर नजर आ रही थी। उसके चेहरे और बांहों पर तकलीफ के निशान थे। उसमें पहले भी जान नहीं थी, अब तो वह बिलकुल बेजान-सी नजर आ रही थी।

सत्यप्रकाश ने उसे देखते हुए पूछा, ''कहां चली गई थी तू? तेरा बच्चा नहीं दिख रहा, वह कहां है?'' औरों ने भी उससे बच्चे के बारे में पूछा।

अनामा कुछ देर तक फटी-फटी आंखों से सबको देखती रही। फिर अचानक अपनी छाती पीटने लगी। बोली, ''मेरा ललुआ!'' अगले ही पल वह सत्यप्रकाश के पैरों पर लोटने लगी। बस एक ही रट लगा रही थी- ''मेरा ललुआ! मेरा ललुआ।''

''हां, कहां है तेरा ललुआ? उसे कहां छोड़ आयी?'' सत्यप्रकाश ने पूछा।

''कहीं वह मर तो नहीं गया?'' किसी ने पूछा।

अनामा सिर्फ रोती रही। कुछ बोल नहीं पायी। पहले भी वह ज्यादा नहीं बोलती थी। आज तो उसका बुरा हाल था। कुछ देर बाद वह संधे हुए गले से बोली, ''ले गए।''

''कहां ले गए? कौन ले गए?''

''ले गए।'' वही एक जवाब । फिर पहले की तरह छाती पीटकर रोने लगी। ''मेरा ललुआ।''

लोग आपस में चर्चा करने लगे। कोई बच्चा चुरानेवाला ले गया होगा। या हो सकता है बीमारी में मर गया हो। क्या था बदन में। कब तक जीता! ऐसा हो तो चलो मुक्ति मिली।

''नहीं, नहीं बच्चे की मौत नहीं हुई होगी। जरा इसकी हालत देखो। बदन पर कितने निशान हैं। लगता है किसी से इसकी लड़ाई हुई होगी। इसे मारा-पीटा गया होगा। उसी ने बच्चे को छीना होगा।''

''हमें तो लगता है इससे बलात्कार भी हुआ होगा।'' पीछे खड़े लालाजी आगे आते हुए बोले।

''लालाजी इस मामले में अनुभवी हैं। उनकी बात मान लेनी चाहिए।''

लोग हंस पड़े। लालाजी खीजकर वहां से खिसक लिये।

सत्यप्रकाश को झुंड की बातों से बहुत असहजता महसूस हो रही थी। वह वहां से निकलकर हलवाई की दुकान पर चला गया। दुकान से कुल्हड़ में चाय और अलग से कचौरियां लेकर वह अनामा के पास पहुंचा। उसने उन्हें अनामा

के सामने रखकर कहा, "कुछ खा ले। न जाने कब की भूखी होगी रो मत। तेरे बच्चे को अगर कोई ले गया है तो उसे हम ढूंढ़ निकालेंगे।" फिर उसने लोगों से कहा, भाई लोगो, अब इसे कुछ खा लेने दो। इससे जो पूछना होगा बाद में पूछ लेना। थोड़ी हवा आने दो।"

भीड़ छंट गयी पर अनामा ने सामने रखा सामान छुआ नहीं। वह बस रोती रही। औरों की सहानुभूति पाकर उसके भीतर का दर्द बर्फ की तरह पिघलकर बहने लगा था।

सत्यप्रकाश ने चलते-चलते कहा, "इन्हें मैं तेरे लिए लाया हूं। अन्न बरबाद मत करना। खा लेना।" वह उदास होकर अपने घर की ओर चला गया। घर पहुंचते ही सत्यप्रकाश ने अपने बच्चे को सीने में भींच लिया। उसे देखकर लगा जैसे उसका बच्चा कोई छीनने की कोशिश कर रहा हो। उसकी पत्नी ने घबड़ाकर पूछा, "बात क्या है?" सत्यप्रकाश ने सारी बात बता दी। कहा, "तुम मां हो। उसका दुख महसूस करोगी।"

सत्यप्रकाश की पत्नी ने गहरी सांस ली। उसकी आंखें छलछला आयीं। मोहल्ले में औरत-मर्द जिसने भी इस बारे में सुना सभी को दुख हुआ। सत्यप्रकाश ने पुलिस में रिपोर्ट दर्ज कराने की बात सोची। पर बुजर्गों ने समझाया, "इस तरह उस गरीबनी की और छीछालेदर होगी। वे बच्चा क्या ढूंढेंगे, उल्टे बच्चा बेचने के आरोप में उसे परेशान करेंगे। न्याय करने वाला ऊपर बैठा हुआ है, वही न्याय करेगा।" सत्यप्रकाश उनकी बातों की अनसुनी कर थाने तक गया भी पर कुछ देर गेट पर खड़े रहकर वह लौट आया।

सत्यप्रकाश की पत्नी ने दोपहर के लिए रोटियां भिजवा दीं। मोहल्ले की बाकी औरतें भी अब उसे खाना खिलाने लगीं। लोगों का रुख अब अनामा के प्रति थोड़ा नरम हो गया था। दुकानदार भी अब पहले की तरह उसे दुरदुराते नहीं थे। हां, कुछ लोग अब भी बाज नहीं आते थे। बच्चे के बारे में उससे सवाल पूछ-पूछकर उसका दुख हराकर देते थे।

मोहल्ले में कोई घटना घटती है तो कुछ लोग चुप नहीं बैठ सकते। एकाध खोजी लोगों ने इस मामले में अपनी क्षमता का उपयोग कर पता लगाया कि अनामा के गायब होने की रात को कोई गाड़ी आकर उसे उठा ले गई थी। देखने में गुंडे ही लगते थे वे। उन्हीं से अनामा की हाथपाई हुई होगी। उन्हीं ने अनामा का बच्चा छीना होगा। और उससे बलात्कार किया होगा। 'बलात्कार क्यों?' किसी ने पूछा। 'गुंडों के हाथों औरत लग जाने पर वे बलात्कार किये बिना नहीं छोड़ते।" यह खोजी लोगों का स्पष्ट निष्कर्ष था।

एक और खोजी दस्ते ने पता लगाकर यह भी बताया कि अनामा को उस रात गुंडों ने नहीं पुलिस वालों ने उठाया था। उस रात मोहल्ले में रोशनी नहीं थी। पुलिस की जीप मौके का लाभ उठाकर अंधेरे में आयी थी और भिखारी उन्मूलन के नाम पर अनामा को ले गई थी। उसे अनामा से गलत काम करना था इसलिए उजाले के बजाय अंधेरा चुना था। बच्चे को भी पुलिस वालों ने गायब किया होगा या उनकी कृपा से भूखा-प्यासा मर गया होगा। जितने मुंह उतनी बातें थीं। किसी के पास कोई प्रमाण नहीं। जो हकीकत बयान कर सकती थी उसकी जुबान पर ताले लगे हुए थे। वैसे भी अनामा की जुबान पुरानी हवेली के ताले जैसी थी। कभी-कभार ही खुलती थी। उसे भी लोग ठीक से समझ नहीं पाते थे। सत्यप्रकाश सारी बातें एक कान से सुनता और दूसरी से निकाल देता। हां, एक बात उसने जरूर गौर किया था कि इधर अनामा पुलिस वालों से काफी डरने लगी थी। किसी भी पुलिस वाले को देखते ही वह चीख पड़ती थी। अपने में सिमट जाती। छिपने की कोशिश करती।

अचानक एक दिन पूरे मोहल्ले में खबर फैल गई कि अनामा गर्भवती है। यह उस घटना के कई महीने बाद की बात थी। लोगों ने गौर से देखा कि वाकई उसका पेट फूला हुआ था। न जाने इस बार फिर वह किसका पाप ले आयी थी? मगर उसके लिए कैसा पाप, कैसा पुण्य। फिर भी ज्यादातर लोग उसे अपने ही तराजू पर तौलते थे। अनामा के प्रति लोगों की सहानुभूति अब कम होने लगी। औरतें उसका नाम सुनते ही छी-छी करने लगती थीं। सबने अपने मर्दों पर नजर रखना शुरू कर दिया था। कुछ तो अपने मर्दों पर संदेह भी करने लगी थीं। उन्होंने अपने घरों में अनामा की चर्चा पर कर्फ्यू लगा दिया।

एक दिन लोगों ने आश्चर्य से देखा कि हरदम खामोश रहने वाली अनामा किसी से झगड़ रही थी। उसके आसपास कोई नहीं था। लगा वह अदृश्य से लड़ रही थी।

फिर एक दिन लोगों ने देखा, वह मंदिर के सामने खड़ी होकर ठाकुर जी को चुनौती देते हुए उनसे कोई जवाब मांग रही थी। भक्तों ने उसे भगा दिया। बैठे-बैठे भी वह न जाने क्या बड़बड़ाती रहती। उसकी हरकतों से साफ हो गया कि उस पर पागलपन के दौर पड़ने लगे हैं। कभी वह अपने उभरे पेट पर हाथ रखकर उसे 'ललुआ-ललुआ' कहकर पुचकारती। उससे बात करती। कोई मनचला उससे पूछता, "तेरा ललुआ कहां है?" वह अपने पेट की ओर इशारा कर देती। कोई उसे तंग करने के लिए कहता "यह तेरा ललुआ नहीं है उसे तो गुंडे ले गए हैं।" यह सुनकर वह कुछ देर सामने वाले को खामोश नजरों से देखती, फिर वह अपने पेट की ओर इशारा करके हंसने लगती थी।

धीरे-धीरे उसका पागलपन बढ़ता गया। एक दिन उसने अपनी मां के साथ घूमते एक बच्चे को गोद में उठा लिया और उसे 'ललुआ-ललुआ' कहकर प्यार करने लगी। उस बच्चे की मां घबरा गई। वह उससे अपना बच्चा छीनने के लिए लपकी तो वह उसे ठेंगा दिखाते हुए दूर भाग गई। आखिर कुछ लोगों को आगे बढ़कर उससे बच्चा छीनना पड़ा था। अनामा जोर-जोर से रोने लगी और 'ले गए, ले गए' कहकर चीखने लगी। हालत यह हो गई कि अनामा अब किसी भी बच्चे को देखती तो वह उसे गोद में लेने के लिए अकुला उठती। उसका विरोध करने पर वह हिंसक भी हो जाती थी हालांकि उसने बच्चों को कभी नुकसान नहीं पहुंचाया मगर अब मोहल्ले की औरतें उससे बुरी तरह डरने लगती थीं। अनामा जिस तरफ बैठी होती उधर से बच्चों वाली महिलाओं ने गुजरना बंद कर दिया था।

एक दिन एक विचित्र घटना घट गई। शर्मनाक भी। अनामा फुटपाथ पर बैठी किसी अदृश्य से उलझ रही थी। वह उस सत्ता को खरी-खोटी सुनाने में मगन थी कि तभी उधर से एक सिपाही अपना डंडा खटखटाता हुआ गुजरा। वह सिपाही वर्दी में पक्का सिपाही था और वर्दी में न होता तो भी सिपाही लगता। सिपाही जब सिपाही बन जाता है तो सिपाही के अलावा कुछ नहीं लगता। वह नागरिक तो लगता ही नहीं। लाचार और पढ़े-लिखे लोग उससे डरते हैं। वह सिपाही सड़क के किनारे खड़े रिक्शों पर डंडा मारता, रिक्शेवालों को नग्न गालियों से हड़काता, आते-जाते लोगों पर तीखी नजर डालता हुआ, युवतियों को बदचलन समझकर घूरता हुआ गश्त लगाते-लगाते अचानक अनामा के पास आकर रुक गया। अनामा उसे देखते ही सिहर उठी। वह पहले भय से सिमटी फिर तुरंत उसी फुटपाथ पर चित लेट गई और अपनी साड़ी कमर से ऊपर उठा दी। भरे बाजार में घटी इस घटना से सिपाही चौंक गया। उसकी फुर्ती का रंग उड़ गया। बाकी लोग भी चौंककर

इधर-उधर देखने लगे। औरतें गर्दन झुकाकर आगे बढ़ गई। किसी की समझ में नहीं आया कि यह क्या हो रहा है। बांके सिपहिया के सामने लॉ आर्डर की समस्या उत्पन्न हो गई।

अगले ही पल उसने डंडा पटकते हुए कहा, "साली, कपड़ा, ठीक कर। बड़ी मस्ती चढ़ी है। लगता है तुझे थाने ले जाना होगा।" अनामा ने फुर्ती से अपनी साड़ी ठीक कर ली। साड़ी नीची होते ही लोगों की आंखें उठने लगी। सब सामान्य हो गया।

किसी ने कहा, "दीवान जी, लगता है आपको सही पहचाना। पगली है तो क्या, समझदार है। देखते ही सैल्यूट मार दिया साड़ी उठाकर।"

सिपाही ने बड़े क्रोध से उसकी ओर घूरा। फिर अपना डंडा दिखाकर उसकी गुस्ताखी के लिए चेतावनी दी। उसकी बगल में जोर से थूका। फिर पागलों और लुच्चों की बस्ती है यह कहते हुए वह अपनी पूर्ववत चाल से आगे बढ़ गया।

अनामा की इस हरकत से बाजार में चिंता व्याप्त हो गई। लोग उसे मोहल्ले से भगाने का उपाय सोचने लगे। सत्यप्रकाश को चिंता भी व्याप्त हो गई। उस दिन के बाद से वह जिस भी वर्दीधारी को उधर से गुजरते देखती तो अपनी साड़ी उठा देती। मोहल्लेवाले इस घटना की व्याख्या करने लगे। दुकानदारों ने हाथ जोड़कर सिपाहियों को उधर से गुजरने से मना कर दिया। सिपाही नाराज हो गए। उनकी राय हुई कि अनामा को उठाकर थाने में बंद कर दिया जाए और उसका भूत उतार दिया जाए। साली का पागलपन ठीक हो जाएगा।

सत्यप्रकाश ने उनसे विनती की कि वे उसे थाने में सताने के बजाय पागलखाने में भर्ती करा दें।

"ससुरी बनती है, पागल-वागल नहीं है।" अनामा से नाराज उस परिचित वर्दी वाले ने कहा।

"इसका फैसला पागलखाने के डाक्टों को करने दीजिए।" सत्यप्रकाश ने फिर विनती की।

"बेहतर हो आप ही लोग इसे पागलखाने में भर्ती कर आइए। हर काम पुलिस पर मत छोड़िए। हां, हमसे कहिएगा तो हम इसे थाने में ले जाकर बंद कर देंगे। वहीं इसका इलाज कर देंगे। एक से एक पागल हमने ठीक किये हैं।" कहते हुए थाने का दीवान जोर से हंसने लगा। बाकी सिपाही भी।

सत्यप्रकाश ने कहा, "ठीक है, हमी कोशिश करते हैं।"

कुछ लोगों ने उसी रात अनामा को वहां से भगाने की कोशिश की। अब एक पागल को झेलने के लिए कोई तैयार नहीं था। मगर सबकी उपेक्षा और निर्दयता को सहते हुए भी अनामा वहां से कहीं जाने को तैयार नहीं थी। भगाये जाने के विरोध में उसने जो चीख-पुकार मचायी कि उन उत्साही लोगों ने उसे उसके हाल पर छोड़ दिया। एक ने गुस्से में कहा भी कि सब सत्यप्रकाश का किया धरा है। उसी के कारण नौबत यहां तक पहुंची है।

अनामा अब खांटी पागल नजर आती थी। रुखे बाल बिखराए, लार बहाती वह एक कोने में बैठकर दिन भर न जाने क्या बड़बड़ाती रहती। गर्भ बढ़ता जा रहा था, आंखें लाल होती जा रही थी, बदन पर मैल के निशान पड़ते जा रहे थे। बेमतलब हंसने लगती, बेमतलब रोने। अब उसका अपने पर भी नियन्त्रण नहीं रह गया था। सत्यप्रकाश उसके फूले पेट और चेहरे को देखता तो उसकी आह निकल जाती थी। सत्यप्रकाश रोज नियम से उसके भोजन का इंतजाम कर देता था। पर अब वह खाती कम, बरबाद ज्यादा करती थी। सत्यप्रकाश लाचार होकर देखता रह जाता था। वह अनामा को जल्द से जल्द किसी पागलखाने में पहुंचा आना चाहता था पर सबका सहयोग न मिलने से इस काम में देरी होती जा रही थी। पुलिस ने तो पहले ही अपना पल्ला झाड़ लिया था। छोटे शहर की अपनी मजबूरियां होती हैं। अपनी मानसिकता। सत्यप्रकाश सबसे उलझ रहा था।

सत्यप्रकाश सबकी हंसी का पात्र बन गया था। एक पागल औरत को स्वस्थ करने की उसकी बेचैनी का लोग मजाक उड़ाने लगे थे।

एक बार किसी ने मजाक में कह दिया कि उस पगली में इसे अपनी मां नजर आती है। सत्यप्रकाश के कानों में यह बात पड़ी तो उसने उसी दिन उसके पास जाकर गंभीरता से कहा, "ठीक कहते हो भाई! वाकई इसमें मुझे अपनी मां नजर आती है। मां जब मेरे लिए बहुत परेशान और दुखी रहती थी, उसका चेहरा भी ठीक ऐसा नजर आता था। वाकई मुझे हर सताये हुए मर्द-औरत में अपने ही लोगों का चेहरा नजर आता है। तुम लोग भाग्यशाली हो जो ऐसे किसी व्यक्ति में अपने किसी का चेहरा नहीं देख पाते। मगर तुम सब इन्सान हो, आश्चर्य है।"

सत्यप्रकाश के कहने में ऐसा कुछ था कि तत्काल कोई कुछ कह नहीं पाया। मगर यह बात वहां मौजूद और लोगों को हजम नहीं हुई। सत्यप्रकाश के जाने के बाद एक समझदार ने कहा, "लगता है, यह सत्ते भी पगला गया है। इसकी मां जिंदा होती तो इसकी बात सुनकर शर्म से मर जाती।"

लोग हंसने लगे। तभी न जाने कहां से आवाज आयी, "जिन्हें शर्म से मरना था वे कब के मर गए। अब तो बेशर्मों का जमाना है।"

उन लोगों ने चौंककर अपने आसपास देखा। मगर कोई नहीं मिला। एक ने खीजकर कहा, "ससुरा मिलता तो मजा चखा देता।"

अनामा की तबियत बिगड़ती जा रही थी। सत्यप्रकाश डाक्टर से कहकर उसके लिए दवा ले आया था। पर वह खुद दवा कैसे लेती, उसे अपने तन-बदन का ही होश नहीं था। सत्यप्रकाश ने एक-दो दिन खुद ही उसे दवा पिलायी। मगर वह इतना परेशान करती थी कि दवा के मामले में सत्यप्रकाश का धैर्य जवाब दे गया। खाना-पीना उसने छोड़ ही रखा था। सत्यप्रकाश के लिए अब करने को कुछ नहीं था।

उस दिन सत्यप्रकाश अनामा को जिला अस्पताल में भर्ती कराने के लिए बड़े डाक्टर के पास गया था। वहीं का इलाज ही चल रहा था। सत्यप्रकाश वहीं से दवा ले आता था। पर वहां भी अनामा को भर्ती करने के लिए कोई तैयार नहीं था। आखिर सत्यप्रकाश के बहुत कहने पर वहां के बड़े डाक्टर भर्ती के लिए तैयार हो गए। सत्यप्रकाश आश्वस्त होकर एम्बुलेंस के लिए भागदौड़ करने लगा। उधर अनामा की हालत बहुत बिगड़ गई थी। वह बेसुध पड़ी थी। बुखार से उसका बदन तप रहा था। उसने कपड़े भी गंदे कर लिये थे। एक आदमी से रहा नहीं गया तो उसने दो-चार बाल्टी पानी उस पर उड़ेलकर उसे साफ कर दिया।

अनामा कराहती रही पर किसी ने उसकी ओर झांका नहीं। सत्यप्रकाश जब एम्बुलेंस लेकर आया तो उसने पाया कि अनामा खामोश पड़ी थी। उसके बदन पर मक्खियां भिनभिना रही थी। नजदीक जाकर देखने पर पता चला अनामा मर चुकी थी।

एम्बुलेंस वाले मरीज को अस्पताल ले जाने आए थे। एक लावारिस लाश ढोने के लिए तैयार नहीं हुए। वे चले गए। बड़ी मुश्किल से एक ठेलेवाला श्मशान ले जाने को राजी हुआ। मोहल्ले वाले हाथ लगाने को तैयार नहीं हुए। सत्यप्रकाश ने ठेलेवाले के सहयोग से अनामा को उस पर रखा। ठेला श्मशान की ओर चल पड़ा। सत्यप्रकाश ने एक गहरी सांस ली, फिर वह ठेले के साथ हो लिया।

किसी ने पिच्च से थूककर कहा- 'साला लंपट!' □

# नाटककार प्रेमचंद

***नाटककार प्रेमचंद के संबंध में सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि उनके कथा-साहित्य की तरह ही उनके नाटकों की मूल प्रेरक शक्ति सोद्देश्यता ही है, पर जैसी सशक्त सामाजिक चेतना कथा-कृतियों में व्यक्त हुई है वैसी नाटकों में नहीं मिलती, यों उन्होंने नाटक कम ही लिखे हैं। प्रेमचंद के साथ ऐसा नहीं हो सका क्यों? इसके कारणों की पड़ताल कर रहे हैं*** **सिद्धनाथ कुमार**

प्रेमचंद की एक सौ पच्चीसवीं जयंती के उपलक्ष्य में उन पर बहुत कुछ लिखा गया है। उनके कथा साहित्य पर विशेष रूप से चर्चा हुई है। उनके नाटकों पर भी सम्यक् विचार होना चाहिए। साहित्यकार प्रेमचंद को समग्रता में समझने के लिए उनके नाटकों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। प्रेमचंद सजग रचनाकार थे, और वे साहित्य-विधाओं के वैशिष्ट्य को समझते थे। उन्होंने कुछ नाटक अवश्य लिखे, पर नाटक-लेखन को गम्भीरता से नहीं लिया था। उन्होंने इस संबंध में स्वयं कहा था- 'मैंने नाटक के बारे में कभी गंभीरता से कोशिश नहीं की। मैंने एक-दो कथानक जरूर बनाए जो मुझे लगता है कि इनका उपयोग नाटक में बेहतर किया जा सकता है। अगर मंचन नहीं हुआ तो नाटक का महत्व खत्म हो जाता है।'

अगर प्रेमचंद ने नाटक लेखन को गंभीरता से नहीं लिया, तो इसका कारण तत्कालीन रंग संदर्भ में देखना चाहिए। उन्होंने उस समय के बारे में स्पष्टत: कहा था- 'भारत में, विशेष कर हिंदी और उर्दू नाटकों के लिए मंच नहीं हैं।' उन्होंने जब अपना पहला नाटक (*संग्राम*, सन् 1923) लिखा, तब की स्थिति यह थी कि भारतेंदु हरिश्चंद्र और रंगनिष्ठा वाले उनके समकालीन जागरूक नाटककारों का युग समाप्त हो चुका था। रंग क्षेत्र में कोई सक्रियता नहीं थी, और नाट्य विधा को सार्थक सिद्ध करने वाली रचनाएं प्रकाश में नहीं आ रही थीं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उस समय के संबंध में स्पष्टत: लिखा था 'हिंदी भाषा की नाट्य-प्रणाली के विषय में हम कुछ नहीं कहना चाहते। अभाग्यवश हिंदी में दो-चार को छोड़ कोई अच्छे रूपक हैं ही नहीं। नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रखा है।'

मुकुटधर पाण्डेय ने उसी समय प्रामाणिक रूप से दिखलाने का प्रयत्न किया कि उच्चकोटि के मौलिक नाटकों का लेखन नहीं हो रहा है- 'गत दस वर्षों से तो हिंदी साहित्य में उत्तम नाटकों की अवतारणा ही नहीं हुई है। जब हम संयुक्त प्रदेश के गत कुछ वर्षों के सरकारी लेखों पर ध्यान देते हैं, तो हमें जान पड़ता है कि वहां गत 1907-1910 ईसवी में हिंदी का एक भी नामोल्लेख योग्य नाटक प्रकाशित नहीं हुआ। 1911-12 में तो नाटक की कोई पुस्तक निकली ही नहीं। विचारने का स्थल है कि जब हिंदी साहित्य के केंद्र संयुक्त प्रदेश ही में नाटक-ग्रंथों की यह दशा है, तो मध्य भारत, मध्य प्रदेश और पंजाब आदि में उसकी क्या दशा होगी?' आश्चर्य नहीं कि हीनावस्था देखकर ही कथाकार प्रेमचंद ने नाटक-लेखन का प्रयत्न किया हो।

प्रेमचंद के मौलिक नाटक तीन हैं- *संग्राम, कर्बला* और *प्रेम की बेदी*। उनके अनूदित नाटक हैं- *न्याय, हड़ताल, चांदी की डिबिया* और *सृष्टि का प्रारंभ*। इनमें प्रथम तीन अंग्रेजी के जॉन गाल्सवर्दी के नाटकों के अनुवाद हैं, और अंतिम जार्ज बर्नाड शॉ के नाटक का हिंदी रूपांतर है।

पहले मौलिक नाटकों की विषय-वस्तु और चेतना पर विचार करना चाहिए। प्रेमचंद ने अपने प्रथम नाटक *संग्राम* में मनुष्य की सत् और असत् प्रवृत्तियों का संग्राम प्रस्तुत किया है। इसकी कथा किसी मधुबन गांव की है। नाटक वहां के एक किसान हलधर और उसकी पत्नी राजेश्वरी की आशा-आकांक्षाओं से प्रारंभ होता है।

हलधर पत्नी के गहने बनवाने के लिए जमींदार सबल सिंह से दो सौ रुपये कर्ज लेता है। सबल सिंह हलधर की सुन्दर पत्नी राजेश्वरी को किसी तरह प्राप्त करने के उद्देश्य से हलधर को बड़ी कुशलता से पुलिस की हिरासत में भिजवा देता है। राजेश्वरी सबल सिंह से प्रतिशोध लेना चाहती है और उसके प्रति प्रेम दिखला कर शहर में उसके एक मकान में रहने लगती है। गांव के लोग चारों ओर हलधर की खोज कराते हैं और पता लगने पर आपस में रुपये जुटाकर उसे छुड़ा लाते हैं। हलधर राजेश्वरी का पता न पाकर विक्षिप्त-सा हो जाता है। वह डाकुओं के गिरोह में शामिल हो जाता है। उधर राजेश्वरी, सबल सिंह और उसके भाई कंचन सिंह में पारस्परिक विद्वेष उत्पन्न कराती है। जब सबल सिंह कंचन सिंह की हत्या कराना चाहता है, तब हलधर की ही दया से कंचन सिंह की रक्षा होती है। सबल सिंह अपने घृणित कार्यों से दुखी होकर घर छोड़कर कहीं चला जाता है। उसकी पत्नी आत्महत्या कर लेती है, और सतीत्वहरण करनेवाला संन्यासी चेतनदास भी अपने कुकर्म के प्रायश्चित स्वरूप नदी में डूब मरता है। हलधर और राजेश्वरी का मिलन होता है। मुख्य कथानक के साथ अन्य कई प्रसंग भी आए हैं- गुलाबी, चंपा और भृगुनाथ का प्रसंग, डाकुओं का प्रसंग, चेतनदास का प्रसंग, पंचायत, थानेदार आदि के प्रसंग।

प्रेमचंद की सामाजिक चेतना से ही *संग्राम* नाटक की रचना निर्दिष्ट हुई है। सामान्यत: जिन विषयों के लिए उनकी चर्चा की जाती है, उन पर उनका ध्यान इस नाटक में भी है। गांव के किसान की आभूषणप्रियता, उसकी ऋणग्रस्तता, सामाजिक मान-अपमान की चिंता, सामाजिक मर्यादा और प्रदर्शन के लिए धन का अपव्यय, जमींदारों द्वारा किसानों पर अत्याचार, लोकप्रियता प्राप्ति के लिए उनके तथाकथित सुधारवादी एवं धार्मिक आचरण की आड़ में उनके कुकृत्य, ढोंगी साधु-संन्यासियों द्वारा लोगों को कुमार्ग पर प्रेरित किया जाना, पुलिस अधिकारियों की धांधली आदि सब का संकेत इस नाटक में है।

नाटक में समाज की विकृतियों का चित्रण है, पर प्रेमचंद की आदर्शवादी दृष्टि सर्वत्र कार्य करती दीखती है।

नाटक का प्रारंभ यथार्थवादी धरातल से होता है और उसका अंत असत् प्रवृत्तियों की पराजय के बाद आदर्श के उच्च धरातल पर। असत् प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं सबल सिंह और चेतनदास। चेतनदास आत्महत्या कर लेता है। सबल सिंह, हलधर-राजेश्वरी के उदात्त चरित्र के सम्मुख दुर्बल सिद्ध होता है और पराजय स्वीकार कर संघर्ष से विरत हो जाता है। नाटक के चरित्रों से स्पष्ट है कि प्रेमचंद मनुष्य की आत्मिक शक्ति को स्वीकार करते हैं। मनुष्य के हृदय परिवर्तन में उनका विश्वास है। अपने इस विश्वास के संबंध में उन्होंने कहा था- 'महात्मा जी जिस प्रकार से कहते हैं, उस प्रकार 'चेंज ऑफ हार्ट' पर मेरा जोर है। यह मेरा मत है कि जबर्दस्ती से किसी भी प्रकार का परिवर्तन लाने के बजाए प्रेम से ही हमारा परिवर्तन होना चाहिए।'

*संग्राम* के लगभग सभी पात्र अपने कुकृत्यों के लिए पश्चाताप करते हैं। हलधर जिसे प्रेमचंद ने नाटक का नायक बनाया है, मूलत: एक आदर्श चरित्र है। तीव्र प्रतिहिंसा एवं आवेश के क्षण में भी वह अपनी सहज मानवीयता नहीं खोता, अपने विरोधी की भी सहायता करता है, जिसकी वह हत्या करने जाता है उसी की रक्षा करता है। राजेश्वरी का चरित्र भी आदर्श है इतना आदर्श कि सतीत्व रक्षा की कथा अविश्वसनीय बन जाती है। ज्ञानी का चरित्र दूसरे चरित्रों को प्रेरित प्रभावित करने में महत्वपूर्ण योग देता है उसी के आत्मत्याग से दूसरे चरित्रों का हृदय-परिवर्तन होता है। प्रेमचंद ने इन सभी पात्रों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हुए भी इन्हें मानवीय बनाए रखना चाहा है। सभी चरित्रों में मानवीय दुर्बलताओं का संकेत भी किया गया है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से *संग्राम* जटिल कथानक का नाटक है। इसमें घटनाएं अनेकानेक आयी हैं, कार्य व्यापार बहुत हैं, द्वन्द्व के संकेत भी अनेक धरातलों पर हैं- पात्रों के अपने-अपने मन के द्वन्द्व तो हैं ही, विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक द्वंद्व भी हैं, नाटकीय कथानक में अपेक्षित संघर्ष, जिज्ञासा के तत्व भी नाटक में हैं, पर दुर्बलता इन तत्वों के संयोजन में है। कथानक में विस्तार बहुत अधिक है, और वस्तु-विन्यास अस्त-व्यस्त-सा है। ग्राम सुधार, पुलिस, सास-बहू संबंध आदि के ऐसे प्रसंग हैं जिनकी उपयोगिता नाटकीय प्रयोजन की दृष्टि से संदिग्ध हो सकती है, पर प्रेमचंद के यथार्थ-चित्रण के आग्रह के कारण महत्वपूर्ण हैं। यह बात अवश्य है कि कभी-कभी संदेह होने लगता है कि प्रेमचंद नाटक लिख रहे हैं या कहानी। दूसरे अंक के तीसरे दृश्य का यह अंश देखा जा सकता है:

तीसरा : चलो, देवीजी के चौरे पर चलकर जय-जयकार मनाएं।

चौथा : कहां है हलधर, कहो, ढोल-मजीरा लेता चल।

(फतू हलधर के घर जाकर खाली हाथ लौट आता है)

पहला किसान : क्या हुआ? खाली हाथ क्यों आए?

फतू : हलधर तो आज दो दिन से घर ही नहीं आया।

दूसरा किसान : उसकी घरवाली से पूछा, कहीं नातेदारों में तो नहीं गए?

फतू : वह तो कहती है कि कल सवेरे खांचा लेकर आम तोड़ने गए थे। तब से लौटकर नहीं आए।

(सब-के-सब हलधर के द्वार पर जाकर जमा हो जाते हैं। सलोनी और फतू घर में जाते हैं।)

सलोनी: बेटी, तूने उसे कुछ कहा-सुना तो नहीं? उसे बात बहुत लगती है, लड़कपन से जानती हूं। गुड़ के लिए रोए, लेकिन मां समझकर गुड़ का पिण्डा सामने फेंक दे तो कभी न उठाए। जब वह गोद में प्यार से बैठाकर गुड़ तोड़-तोड़ खिलाए तभी चुप हो।

राजेश्वरी : काकी, क्या मैं ऐसी निकम्मी हूं कि देश में जिस बात की मनाही है, वही करूंगी। (फतू बाहर जाता है।)

मंगरू: मेरे जान में तो उसे थाने वाले पकड़ ले गए।

फतू : ऐसा कुमारगी तो नहीं है कि थानेवालों की आंखों पर चढ़ आए।

स्पष्ट है कि इस छोटे-से प्रसंग में कार्यस्थल कई बार बदल जाते हैं, पात्र दूसरे स्थानों पर जाकर क्षण भर में वापस आ जाते हैं, कुछ पात्र घर के बाहर खड़े रहते हैं और कुछ अन्दर जाकर बातें करते हैं। यथार्थवादी रंगमंच की दृष्टि से इसे व्यावहारिक नहीं कहा जाएगा। प्रस्तुतीकरणात्मक पद्धति के उपयुक्त हो सकता है। प्रसंग किसी फिल्म आलेख की तरह लगता है। वास्तव में प्रेमचंद ने जो लिखा है, वह नाटकीय कम, कथात्मक अधिक है। प्रेमचंद का कथाकार यहां भी सक्रिय है। संवाद-शैली से भी इसका संकेत मिलता है। संवाद ढीले-ढाले हैं- जहां एक वाक्य से काम चल सकता है, वहां अनेक वाक्यों का व्यवहार किया गया है। एक ही बात शब्दावली भेद से कई वाक्यों में कही गई है, जैसे सबल सिंह कहते हैं- 'राजेश्वरी, मेरी इतनी उम्र गुजर गई लेकिन परमात्मा जानते हैं कि आज तक मुझे न मालूम हुआ कि प्रेम क्या वस्तु है। मैं इस रस के स्वाद को जानता ही न था, लेकिन जिस दिन से तुमको देखा है प्रेमानन्द का सुख भोग रहा हूं। तुम्हारी सूरत एक क्षण के लिए भी आंखों से नहीं उतरती। किसी काम में जी नहीं लगता, तुम्हीं चित्त में बसी रहती हो। बगीचे में जाता हूं तो मालूम होता है कि फूलों में तुम्हारी ही सुगंध है, श्यामा की चहक सुनता हूं तो मालूम होता है कि तुम्हारी ही मधुर ध्वनि है। चन्द्रमा को देखता हूं तो जान पड़ता है कि वह तुम्हारी ही मूर्ति है...।'

*संग्राम* की रचना परंपरागत शैली में ही हुई है। 'मन में' यानी अश्राव्य और 'प्रकट' यानी सर्वश्राव्य का व्यवहार बहुत हुआ है। प्रेमचंद के मन में यह धारणा भी है कि नाटक में गीतों का होना अनिवार्य है। *संग्राम* की भूमिका में उन्होंने लिखा है- 'आजकल नाटक लिखने के लिए संगीत का जानना जरूरी है। कुछ कवित्व-शक्ति भी होनी चाहिए।...संगीत से सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए भी मैंने जहां कहीं जी में आया है, गाने दे दिए हैं।' कहने की आवश्यकता नहीं कि जहां कहीं दे दिए गानों से नाटक की सार्थकता संदिग्ध होती है। प्रेमचंद के मन में गीतों की अनिवार्यता संबंधी धारणा संभवत: तत्कालीन पारसी रंगमंच की प्रेरणा से आयी होगी।

*संग्राम* की मंचीय सफलता विवादास्पद हो सकती है। पांच अंकों के अड़तीस दृश्यों में लिखित यह नाटक यथार्थवादी मंचन की दृष्टि से कठिन तो है ही, पर प्रेमचंद ने इसकी अभिनेयता के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया था- 'मुझे विश्वास है यह नाटक रंगभूमि पर खेला जा सकता है। हां, रसज्ञ मैनेजर को कहीं-कहीं काट-छांट करनी पड़े। मेरे लिए नाटक लिखना ही कम दुस्साहस का काम न था। उसे स्टेज के योग्य बनाने की धृष्टता अक्षम्य होती।'

नाटक के क्षेत्र में प्रवेश करते समय प्रेमचंद के मन में अवश्य ही संकोच था- 'आशा है, सहृदय पाठक मुझे क्षमा प्रदान करेंगे। मुझसे कदाचित फिर ऐसी भूल न होगी। साहित्य के क्षेत्र में यह मेरा पहला और अंतिम दुस्साहसपूर्ण पटाक्षेप है।' *संग्राम* अंतिम पटाक्षेप नहीं हुआ, उसके बाद भी प्रेमचंद ने दो मौलिक नाटक और लिखे- *कर्बला* (सन् 1924) और *प्रेम की बेदी* (सन् 1933)।

*कर्बला* एक धार्मिक ऐतिहासिक नाटक है। इसकी भी रचना

आदर्शवादी दृष्टि से हुई है। प्रेमचंद के विचार से, 'हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओं को मुस्लिम महापुरुषों के सच्चरित्रों का ज्ञान नहीं। जहां किसी मुसलमान बादशाह का जिक्र आया कि हमारे सामने औरंगजेब की तस्वीर खिंच गई। लेकिन अच्छे और बुरे चरित्र सभी समाजों में होते आए हैं, और होते रहेंगे। मुसलमानों में भी बड़े-बड़े दानी, बड़े-बड़े धर्मात्मा और बड़े-बड़े न्यायप्रिय बादशाह हुए हैं।' किसी जाति के महान पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन उस जाति के साथ आत्मीयता का संबंध जोड़ने में सहायक हो सकता है। हिंदू-मुस्लिम सद्भाव की समस्या प्रेमचंद के समय में थी, और वे इसे महत्वपूर्ण मानते थे। इसी से उन्होंने *कर्बला* में हुसेन साहब के महान् आत्म-बलिदान की कथा प्रस्तुत की है। हुसेन साहब का उदात्त चरित्र स्वयं प्रभावपूर्ण है, और प्रेमचंद ने उसे और भी प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना चाहा है जिससे पाठकों के मन में केवल करुणा न जगे, गर्व की भी अनुभति हो।

पुस्तक के प्रारंभ में प्रेमचंद ने 22 पृष्ठों में कथा सार दिया है। नाटक में यह कथा 5 अंकों के 42 दृश्यों में कही गई है। हुसेन साहब से संबधित सभी उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों को उनकी समग्रता में प्रस्तुत करने का आग्रह लेखक में स्पष्टत: परिलक्षित होता है। नाटक में जिस सानुशासन चयन की अपेक्षा रहती है वह *कर्बला* में नहीं है। *संग्राम* की तरह ही इसका भी स्थापत्य है। घटनाओं और पात्रों की बहुलता के कारण किसी प्रभाव की अन्विति नहीं बन पाती। रचना से लगता है, जैसे कोई कथाकार संवादों और कुछ संक्षिप्त निर्देशों के माध्यम से कोई कथा प्रस्तुत कर रहा हो। वस्तुविन्यास और संवाद-शैली *संग्राम* की तरह ही है। गीतों का व्यवहार इसमें भी हुआ है।

प्रेमचंद ने प्रारंभ में लिखा है- 'नाटक में संगीत का होना आवश्यक है... मुस्लिम पात्रों के मुख से ध्रुपद और विहाग कुछ बेजोड़-सा मालूम होता है। इसलिए हमने उर्दू कवियों की ग़ज़लें दे दी हैं। कहीं-कहीं अनीस की मर्सियों में से दो-चार बन्द उद्धृत कर दिए हैं।...कविवर श्रीधर पाठक की एक भारत-स्तुति रखी गई है।' इससे इतना पता चलता है कि प्रेमचंद अपने समय की रंग-रूढ़ियों के प्रति सजग थे। संगीत में भी उनकी रुचि थी। नाटक की अभिनेयता के संबंध में उन्होंने लिखा था- 'हमने यह नाटक खेले जाने के लिए नहीं लिखा, मगर हमारा विश्वास है, यदि कोई खेलना चाहें तो थोड़ी काट-छांट से खेल भी सकते हैं।' हर नाटक-लेखक के मन में अपनी कृति को मंचित होते देखने की इच्छा होती है, इस दृष्टि से प्रेमचंद के विचार उचित ही कहे जाएंगे।

प्रेमचंद का तीसरा नाटक *प्रेम की बेदी* प्रेम की महत्ता दिखलाने के लिए लिखा गया है। इसमें लेखक ने कहना चाहा है कि प्रेम जाति, धर्म, रस्म-रिवाज और सब प्रकार के बाहरी बंधनों से ऊपर है। नाटक के अंत में जेनी ने जो कहा है, वही एक प्रकार से प्रेमचंद का कथ्य है- 'आज मैं इन सारे ढकोसलों को, इन सारे बनावटी बंधनों को प्रेम की बेदी पर अर्पण करती हूं। यही ईश्वर का धर्म है। धन का धर्म, विद्या का धर्म, राष्ट्र का धर्म संघर्ष हो सकता है, खुदा का धर्म प्रेम है और इसी धर्म को स्वीकार करती हूं। शेष धोखा है।'

*संग्राम* और *कर्बला* की तुलना में *प्रेम की बेदी* एक छोटा-सा नाटक है। इसमें प्रेमचंद ने किसी अंक का संकेत नहीं दिया है। इसमें सात दृश्य हैं, यों बीच-बीच में इसमें भी दृश्य-परिवर्तन हुए हैं। इसकी कथा भी संक्षिप्त है- ईसाई युवती जेनी विवाह को बंधन मानती है, और अविवाहित रहना चाहती है। विलियम जेनी से विवाह करना चाहता है, और जेनी की मां मिसेज गार्डन, जिसके पति का देहांत हो गया है, जेनी और विलियम के विवाह के पक्ष में है। अपनी नवविवाहिता सखी उमा और उसके पति योगराज से भेंट होने पर जेनी योगराज की ओर आकृष्ट होती है, पर अपनी सखी की बात सोचकर आगे नहीं बढ़ती। एक साल बाद उमा का देहान्त हो जाता है, और योगराज जेनी को स्वीकार करना चाहता है, पर जेनी धर्म आदि के बंधनों के कारण विवाह प्रस्ताव स्वीकार नहीं करती। इस दुख से योगराज की मृत्यु हो जाती है, और तब जेनी प्रेम के लिए सभी बंधनों को तोड़ने की बात सोचती है। यहीं नाटक समाप्त होता है। प्रासंगिक कथा यह है कि विलियम अपने व्यवहार के कारण हास्यास्पद बनता है, और बुढ़िया मिसेज गार्डन से शादी कर लेता है। इस नाटक से बंधनग्रस्त विवाह-संस्था के बारे में प्रेमचंद के विचारों का परिचय मिलता है।

*प्रेम की बेदी* का कथानक इस तरह निर्मित हुआ है कि बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। वस्तु-विन्यास अतिरंजित-सा है, नाटक का अंत विशेष रूप से जेनी के अंतिम संवाद में जो भावावेश है, उसके उपयुक्त पृष्ठभूमि पहले से निर्मित नहीं हो पायी है, ऐसा लगता है। पात्रों के चरित्रांकन में भी अतिरंजना परिलक्षित होती है। नाटक की पद्धति पहले दोनों नाटकों की ही तरह है। बीच-बीच में जो रंग-संकेत हैं, उनमें कथाकार के कुछ नैरेशन भी हैं। प्रेम और विवाह के संबंध में जो संवाद हैं, वे अधिकतर बहस बनकर रह गए हैं। संवाद पहले दोनों नाटकों की तुलना में अवश्य ही संक्षिप्त हैं। शिल्प की दृष्टि से *प्रेम की बेदी* पहले के नाटकों से भिन्न नहीं है।

नाटककार प्रेमचंद के संबंध में सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि उनके कथा-साहित्य की तरह ही उनके नाटकों की मूल प्रेरक शक्ति सोद्देश्यता ही है, पर जैसी सशक्त सामाजिक चेतना कथा-कृतियों में व्यक्त हुई है, वैसी नाटकों में नहीं मिलती, यों उन्होंने नाटक कम ही लिखे हैं। सामान्यत: होना चाहिए कि सामाजिक चेतना प्रखरता से नाटकों में भी व्यक्त होती। नाटक सर्वाधिक सामाजिक कला है, क्योंकि यह जनजीवन से प्रत्यक्षत: जुड़ी रहती है। प्रेमचन्द के साथ ऐसा नहीं हो सका, इसका कारण है, जैसा पहले संकेतित है, उनके समय में हिंदी का सक्रिय रंगमंच नहीं था। ऐसे ही समय में मुख्यत: पाठ्य नाटकों की रचना होती है, लेखक रंगमंच का महत्त्व भूलने लगता है।

*कर्बला* की भूमिका में प्रेमचंद ने लिखा है- 'नाटक दृश्य होते हैं और पाठ्य भी। पर हमारा विचार है, दोनों प्रकार के नाटकों में कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। अच्छे अभिनेताओं द्वारा खेले जाने पर प्रत्येक नाटक मनोरंजक और उपदेशप्रद हो सकता है।' इस उद्धरण में 'कोई भी' विवादास्पद हो सकता है। अभिनेय वही नाटक होता है जो रंगमंच की सीमाओं और सुविधाओं को ध्यान में रखकर लिखा जाता है। प्रेमचंद का यह उद्धृत विचार बहुत पहले का है। बाद में सन् 1935 में एक साक्षात्कार में उन्होंने स्वीकार किया था- 'मैं कभी नाटक की तकनीक और मंच कौशल के संपर्क में भी नहीं आ सका, इसलिए मेरे नाटक सिर्फ पढ़ने लायक रह गए थे।'

प्रेमचंद ने नाटक की अनेक पुस्तकों की समीक्षा की थी। उससे उनके नाटक संबंधी विचारों को समझा जा सकता है। 'दागी माल' और 'वैवाहिक अत्याचार' नाटकों की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा था- 'दोनों ही रचनाएं मनोरंजक हैं, और यद्यपि नाटक की दृष्टि से उनका मूल्य कुछ नहीं है (संवाद द्वारा कोई बात कहना ड्रामा नहीं है।), पर उपयोगिता की दृष्टि से यह बहुत मूल्यवान हैं।' (*माधुरी*, सितम्बर 1924) अपने विचार को वे अपने नाटकों में व्यावहारिक रूप नहीं दे सके, इसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।

प्रेमचंद ने कुछ नाटक अवश्य लिखे, पर उनकी मूल चेतना कथाकार की ही है। उनके नाटकों में नाटकीयता की अपेक्षा कथात्मकता की ही प्रधानता है। यदि प्रेमचंद का कथाकार नाटकों में उभर कर आता है, तो यह उनके कथाकार की शक्ति एवं विजय का परिचायक है। नाटककार प्रेमचंद की दुर्बलता ही कथाकार प्रेमचंद की सफलता है। □

# प्रेमचंद का संदेश जनता तक ले जाने का संकल्प

प्रस्तुति : श्याम सुशील

*समारोह को संबोधित करते हुए जुबैर रिजवी*

कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की 125वीं वर्षगांठ पर साल भर चले समारोहों का समापन 29 और 30 जुलाई को दिल्ली के ऐवान-ए-ग़ालिब में हंसाक्षर ट्रस्ट की ओर से आयोजित दो दिवसीय संगोष्ठी के साथ हुआ। 'यातना, संघर्ष और स्वप्न: संदर्भ प्रेमचंद की समकालीनता' विषय पर आयोजित इस संगोष्ठी में देश भर के हिंदी-उर्दू रचनाकारों के अलावा पाकिस्तान से आए कुछ लेखकों ने भी प्रेमचंद की रचनाओं पर अपने विचार रखे।

कार्यक्रम की शुरूआत में हंसाक्षर ट्रस्ट के ट्रस्टी और '*हंस*' के संपादक राजेन्द्र यादव ने समारोह की रूपरेखा और उद्देश्यों के बारे में बताते हुए कहा कि पिछले बीस वर्षों से प्रेमचंद जयंती के अवसर पर निरंतर होने वाले इस वार्षिक आयोजन का विषय इस बार 'प्रेमचंद: यातना, संघर्ष और स्वप्न' इसलिए रखा गया है क्योंकि आज के साहित्य को खासकर प्रेमचंद के संदर्भ में 'यातना', 'संघर्ष' और 'स्वप्न' के द्वारा ही परिभाषित किया जा सकता है।

चर्चित आलोचक डा. मैनेजर पांडेय ने प्रेमचंद की कहानियों का जिक्र करते हुए कहा कि उन्होंने अपने समय के महत्वपूर्ण सामाजिक मुद्दों को साहित्य के केंद्र में रखा। उन्होंने कहा कि जिस किसान की समस्या के प्रति प्रेमचंद गंभीर थे वही किसान अब कथा साहित्य से गायब हो गया है। प्रसिद्ध चिंतक एजाज अहमद ने कहा कि सामाजिक मुद्दों पर लिखने वाला प्रेमचंद से बड़ा लेखक उर्दू साहित्य में भी दूसरा नहीं हुआ। प्रेमचंद ने पहली बार पूरे लगाव से सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों की आवाज उठाई और सौंदर्य के श्रम से जोड़कर 'फिक्शन' की खुरदरी जुबान में सौंदर्य पैदा किया। प्रेमचंद के पोते आलोकराय ने कहा कि प्रेमचंद के समय में संभ्रांत साहित्य में दलित स्त्री किसान कि बात नहीं होती थी, लेकिन इन सबको प्रेमचंद ने साहित्य में स्थापित किया। आज के भूमंडलीकरण का संकट प्रेमचंद के समय में नहीं था जिसे नए ढंग से, नए अंदाज में साहित्य में लाना ही प्रेमचंद को याद करने का सही तरीका होगा।

पाकिस्तान से आए कथाकार मसूद अशअर ने कहा कि प्रेमचंद अपने साहित्य के माध्यम से गंगा-जमुनी संस्कृति को आगे बढ़ा रहे थे। कवि आलोचक अशोक वाजपेयी ने कहा कि प्रेमचंद ने लगातार साहित्य के शिल्प को बदलने का जोखिम उठाया और हिंदी में पहली बार महाजनी सभ्यता की पहचान की। पाकिस्तान से आए लेखक असगर नदीम सैयद ने कहा कि प्रेमचंद ने जिन मुद्दों को अपनी रचनाओं में उठाया है वे आज भी कायम हैं। इसी तरह कथा लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने कहा कि प्रेमचंद ने जिस स्त्री समस्या की बात की है वह आज भी नहीं बदली है।

सुप्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने प्रेमचंद के सपनों की बात करते हुए कहा कि वे छोटे-छोटे सपनों को मिलाकर एक बड़े सपने का ढांचा बनाते हैं और इस पर भी विचार करते हैं कि आजादी मिलने के बाद उसका स्वरूप क्या होगा। वे विकास के बाद पैदा होनेवाली विकृतियों पर भी सोचते हैं। पाकिस्तान से आए कथाकार आलोचक मिर्जा हामिद बेग ने प्रेमचंद के लेखन के विकास क्रम को रेखांकित करते हुए कहा कि उन्होंने बहुत जल्दी कौमपरस्ती और फिरकापरस्ती के अंतर को समझ लिया था। उन्होंने अपनी रचनाओं में मिली-जुली संस्कृति को अपनाया और हिंदी-उर्दू में एक साथ यथार्थवादी परंपरा की शुरूआत की। प्रो. मोहम्मद हसन ने कहा कि जब तक छुआछूत, सामंती व्यस्था और साम्प्रदायिकता की समस्याएं रहेंगी, प्रेमचंद मौजूद रहेंगे। प्रो. कमर रईस ने कहा कि प्रेमचंद अपने लेखन में आर्य समाज से समाजवाद तक का सफर तय करते हैं। युवा कथाकार अजय नावरिया ने कहा कि प्रेमचंद का संघर्ष मनुष्य के लिए है, मनुष्य की भूख के लिए है। प्रेमचंद अपनी रचनाओं में भूख के समाजशास्त्र की सामाजिक प्रस्तुति करते हैं।

सुप्रसिद्ध आलोचक और जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष शिवकुमार मिश्र ने कहा कि प्रेमचंद ने जनतांत्रिक भारत का सपना देखा था जो यथार्थ में पूरा नहीं हुआ। प्रेमचंद इतिहास नहीं बने बल्कि इतिहास ने उन्हें हमारा समकालीन बना दिया। दलित लेखक ओमप्रकाश बाल्मीकि ने कहा कि प्रेमचंद अपनी कहानी में यथार्थ का चित्रण करते हुए भी उसे आदर्श की तरफ ले जाते हैं। वे दलित चेतना की नहीं बल्कि आदर्शवादी सुधार की बात करते हैं। फुजैल जाफरी ने प्रेमचंद के विरोधियों की चर्चा करते हुए कहा कि यह प्रेमचंद की ताकत है कि उनके विरोधी भी उन पर लिखने के लिए मजबूर होते हैं। जुबैर रिजवी ने कहा कि प्रेमचंद की रचनाओं को समझने के लिए समाज का हिस्सा बनना पड़ेगा। डा. मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह ने कहा कि प्रेमचंद की प्रासंगिकता को आधुनिक संदर्भ में देखना-समझना होगा वर्ना परंपरा के मूल्यांकन का अर्थ उलझता ही जाएगा। डा. नामवर सिंह ने अंतिम सत्र की अध्यक्षता करते हुए कहा कि दो दिन के सेमिनार का विषय रखा गया था। यातना, संघर्ष और स्वप्न। मैं कहना चाहता हूं कि प्रेमचंद का साहित्य सपनों के लिए जद्दोजहद करने की ताकत देता है। प्रेमचंद मनुष्य को मनुष्य बनाने की बात करते थे और उस समय भी दरिंदों से लड़ने के लिए हथियार बांधने की बात करते थे। उन्होंने 'लाटरी', 'नमक का दरोगा' और 'मंदिर-मस्जिद'

आदि कहानियों का जिक्र करते हुए कहा कि वे किसानों से ज्यादा शहरी मध्यवर्ग के लिए लिखते थे।

दो दिन तक चले प्रेमचंद : 125वीं जयंती राष्ट्रीय समारोह के समापन अवसर पर केंद्रीय संस्कृति मंत्री ने अपने वक्तव्य में कहा कि भारतीय संस्कृति में लेखक को सृष्टा कहा जाता है, विश्वमंच पर प्रेमचंद के साहित्य ने भारत की पहचान को रेखांकित किया है। वे साहित्य के माध्यम से समाज में समता लाना चाहते थे। उनके समय का यथार्थ आज के यथार्थ से जुड़ जाता है। उनके पात्रों की पीड़ा आज के समाज की पीड़ा है। उन्होंने आश्वासन भी दिया कि 125वीं राष्ट्रीय समारोह समिति जो भी प्रस्ताव लाएगी सरकार उसे पूरा करने का प्रयास करेगी। उन्होंने कहा कि प्रेमचंद शोध संस्थान के काम को भी मुकाम्मल किया जाएगा और प्रेमचंद की रचनाओं को देश और दुनिया भर में पहुंचाने के लिए दूरदर्शन और विभिन्न चैनलों का सहारा लिया जाएगा। पूर्व राज्यसभा सदस्य और प्रेमचंद की 125वीं जयंती समारोह की संयोजक सरला माहेश्वरी ने धन्यवाद ज्ञापन करते हुए कहा कि जिस तरह जनता के सरोकारों को लेकर प्रेमचंद ने कलम उठाई उन सरोकारों से हम अपने को जोड़ लें तो हम आज की चुनौतियों से लड़ सकते हैं। उन्होंने प्रेमचंद के संदेश को सारे भारत की जनता तक ले जाने का आह्वान किया। □

## अस्सी वर्ष के हुए नामवर

**आवरण पृष्ठ 2 से आगे**

अपने दायरे से बाहर निकलकर भी अपना असर छोड़ सके। उन्होंने कहा कि हिंदी समाज में और भी विभूतियां हैं लेकिन नामवर जी काफी आगे हैं उनकी उपस्थिति विश्वास भी जगाती है और आश्वस्त भी करती है। नामवर जी ने बहुत विकट जीवन जिया। उन्होंने विभूतियों की सोहबत और उनके साथ उल्लास मनाने की परंपरा को याद करते हुए कहा कि अब विभूतियों को अपने साथ रखकर उल्लास मनाने की परंपरा लुप्त हो रही है। इस परंपरा के तहत हम साधारण जन विभूतियों के साथ खुद भी ऊंचा उठते हैं। यहां हम नामवर जी की सोहबत के लिए इकट्ठा हुए हैं, नामवर जी हम सबके लिए शतायु हों।

इसके बाद शास्त्रीय गायक मधुप मुद्गल ने अपनी शैली में कबीर के आठ-नौ पदों, जिनमें 'भीनी-भीनी बीनी चदरिया' से लेकर 'हमन हैं इश्क मस्ताना...' आदि का गायन कर महोत्सव को अविस्मरणीय बना दिया।

इस अवसर पर सुप्रसिद्ध लेखिका कृष्णा सोबती ने *काशी के नाम* पुस्तक का लोकार्पण करते हुए कहा कि, डा. नामवर सिंह द्वारा अपने कथाकार भाई काशीनाथ सिंह को लिखे पत्रों का यह संग्रह किसी भी भारतीय किसान परिवार की गाथा का संक्षिप्त, सुधरा और गहन संयोजन है। इसे खेतिहर संयुक्त परिवार की सामाजिक और संबंधों के सगेपन की दूरियों और नजदीकियों के दस्तावेज के रूप में पढ़ा जा सकता है। उन्होंने कहा कि इन पत्रों ने दो भाइयों कि निकटता को महसूस करने की एक छोटी-सी किवड़िया खोल दी है। काशी ने पत्र की सुरक्षा करके, इसका संपादन करके हिंदी जगत को एक तोहफा दिया है। उन्होंने कहा कि डा. नामवर सिंह का वाचन हिंदी आलोचना की मूल्यवान विरासत है। डा. नामवर सिंह को अस्सी साल पूरे करने पर बधाई देते हुए उन्होंने हिंदी पाठकों की ओर से पूरे अधिकार के साथ इस मांग को रखा कि अब नामवर जी अपनी आत्मकथा पर कलम चलाएं।

कथाकार काशीनाथ सिंह द्वारा अपने बड़े डा. नामवर सिंह पर लिखे संस्मरणों की पुस्तक *घर का जोगी जोगड़ा* का लोकार्पण करते हुए कवि, चित्रकार और पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने कहा कि काशी को बधाई कि उन्होंने दीवा जो चमकता तो था ही, उसे दीवट पर रख दिया है। इस किताब को पढ़ते हुए मुझे अपने बचपन के दिनों की याद आ गई। इस किताब में नामवर जी के गांव जीअनपुर की चर्चा है- वहां के पोखरे, खेत-खलिहान, गांव में झूला पड़ना यही सब स्मृतियां मेरे बचपन की भी रही हैं। उन्होंने कहा कि नामवर जी को मैं उदय प्रताप सिंह कॉलेज, बनारस, से जानता हूं। वे सीनियर थे। मैं नौवीं या दसवीं में था। उस समय मैंने इनको सस्वर कविता पाठ करते हुए सुना था। एक कविता की याद मुझे अभी तक है- 'तान के सोता रहा मैं, जग चादर खींच गया वायु-सा' यह कविता इस तरह छू गई कि लगा जैसे काव्य से पहली बार साक्षात्कार हुआ। उन्होंने कहा कि मैं हैरान हूं कि वे अब कविताएं क्यों नहीं लिखते। विश्वनाथ प्रताप सिंह ने डा. नामवर सिंह के संघर्ष भरे दिनों को याद करते हुए कहा कि नामवर जी कठिन जीवन में भी एक जोगी का जीवन जीते रहे। कई लोगों में कटुता आ जाती है। जिन लोगों का जीवन दूध-सा होता है, फट भी जाता है, दही की तरह होता है, खट्टा हो जाता है लेकिन नामवर जी का जीवन गन्ने की तरह है जितना पेरो रस ही देता है। मुझे इस दुनिया में थोड़े से ही ऐसे लोग मिले जिनमें इतने तूफानों को झेलने के बावजूद थोड़ी-सी भी कटुता नहीं आई। उन्होंने कहा कि नामवर जी की तरह ही नेल्सन मंडेला भी हैं, जो इतने वर्षों तक जेल में रहने के बावजूद कटु नहीं हो सके। *घर का जोगी जोगड़ा* किताब पढ़ते हुए मुझे लगा कि मैं अपना ही जीवन पढ़ रहा हूं। इस सबसे गुजरने के बाद हिम्मत भी बढ़ती है। उन्होंने कहा कि नामवर जी से मिलकर लगता है कि एक सहृदय और बहुत बड़े ज्ञानी से मिल रहे हैं। इनका ज्ञान बिजली की तरह कौंधता नहीं, ओस की तरह झिलमिलाता है। वो अपना ज्ञान हमें इस तरह देते हैं जैसे समंदर बालू पर अपना मोती छोड़ जाता है।

डा. नामवर सिंह की पुत्री समीक्षा ठाकुर द्वारा संपादित उनके साक्षात्कारों की किताब *बात-बात में बात* का लोकार्पण करते हुए वामपंथी नेता ए.बी. बर्धन ने डा. नामवर सिंह को अपने समय का सबसे बड़ा आलोचक बताया। उन्होंने उन दिनों को याद किया जब डा. नामवर सिंह चंदौली के लोकसभा उपचुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़े थे। उन्होंने कहा कि चुनाव लड़ना बड़ा काम नहीं था, अभी जो नामवर सिंह कर रहे हैं वह उनका बहुत बड़ा उनका योगदान है। उन्होंने कामना की कि आने वाले दिनों में नामवर जी के हाथों कुछ और अच्छा रचनात्मक काम होता रहेगा।

डा. नामवर सिंह के छोटे भाई डा. काशीनाथ सिंह ने इस अवसर पर कहा कि भैया स्वस्थ हैं, सक्रिय हैं यह हमारे लिए ही नहीं, पूरे साहित्य जगत के लिए सौभाग्य की बात है। मेरी इच्छा थी कि जब भैया 80 वर्ष के हों तो उन्हें कुछ ऐसा उपहार दूं, लेकिन आज जो मैंने उन्हें दिया है वह उन्हीं का दिया हुआ है उन्हीं की चिट्ठियों और उनके संस्करणों को ही मैंने किताब के रूप में प्रस्तुत किया है। *घर का जोगी जोगड़ा* किताब में जो संस्मरण हैं वो भी खिड़की-दरवाजे नहीं हैं सिर्फ झरोखे हैं जिनसे मैंने देखने की कोशिश की, उसे पूरा नहीं समझना चाहिए। इस मौके पर अनेक साहित्यकार पत्रकार रंगकर्मी, पाठक और युवा लेखक भारी संख्या में मौजूद थे। कार्यक्रम के शुरू में राजकमल समूह के अशोक महेश्वरी ने अतिथियों का स्वागत किया और समारोह का संचालन मदन कश्यप ने किया। □

कहानी

# कैद

ज्ञानप्रकाश विवेक

रेखांकन : राजकमल

आसमान कितना छोटा है उसके लिए। छोटे से कैनवस पर जैसे एक धब्बा आसमान। यह प्रतीक थोड़ा रुमानी है। हकीकत उसके विपरीत है। दीवार के आले से सिर निकालकर आसमान देखना, बेबसी और बेचैनी के अनकहे बयान जैसा होता है।

वह आसमान को थोड़ा-सा देख सकता है। थोड़ा-सा वह उस दीवार को भी देख सकता है जो गुमटी के एकदम सामने है जहां वह कील गाड़कर अपनी सद्दी का मांझा बनाता था और देर तक पतंग उड़ाते हुए पेच लड़ाता था। प्रतिद्वंद्वी की पतंग कटती तो वह खुशी से झूम उठता- "वो काटा।"

आले से बाहर सिर निकालकर वह सामने बिछी चारपाई को देख सकता है। छत पर कोई चिड़िया, कबूतर या कव्वा चला आए तो वह उन्हें भी देख सकता है। वह बार-बार इन्हीं चीजों को देखता होगा। उकता जाता होगा। फिर अकेली छोटी-सी गुमटी में सिमट जाता होगा। गुस्से में अपने बाल नोचता होगा। कुछ बुदबुदाता होगा। हो सकता है, वह फर्श पर थूक देता हो। तभी तो उसकी आंखों में आक्रोश होता है या फिर दुख।

उसे देखो तो उसकी आंखें गुर्राती हुई नजर आती हैं। और चेहरा! जैसे मनुष्य का चेहरा हटाकर किसी जानवर का चेहरा लगा दिया हो। वह हमेशा बुदबुदाता, बड़बड़ाता नजर आता है। उसका बस चले तो सामने बैठी चिड़िया को पकड़े और कुतर दे पंख। उसका बस चले तो उस कोठरी को गिरा दे जिसमें वह कैद है- कैद बेमुद्दत!

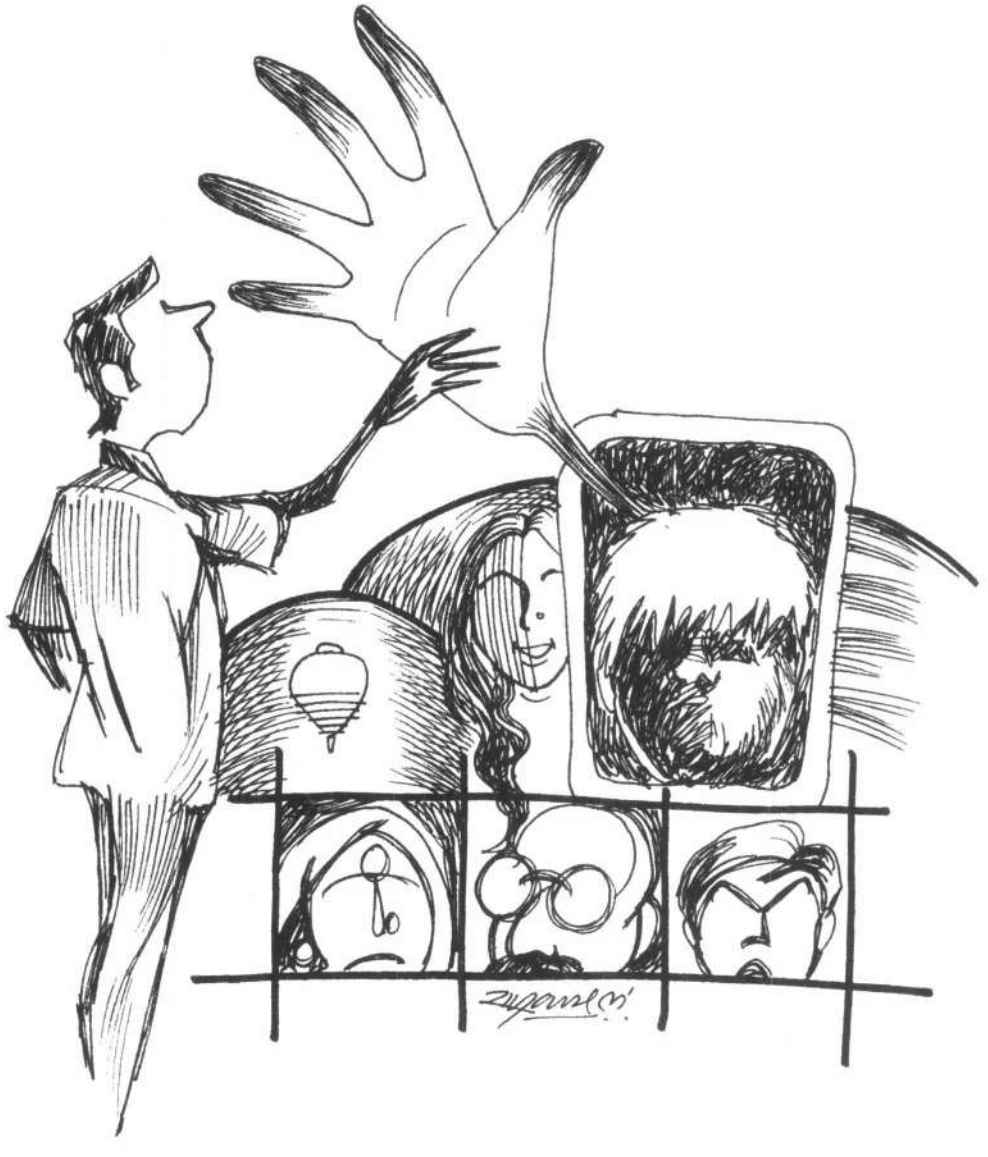

यह पुराने इलाके की बस्ती का छोटा-सा मकान है। खुली छत। छत के एक तरफ घर का कूड़ा-कबाड़ा। नीचे घर। लोग। आवाजें। बाहर गली। गली में बाजार। दुकानें, आमदरफ्त। चहल-पहल, शोर , दुकानदार, बहस, ठहाके।

छत के बीचों-बीच यह कोठरी है, कोठरी में लड़का है, लड़के की उम्र तेरह-चौदह साल है, कोठरी का भूगोल बेहद सीमित है, एक दरवाजा है जो बाहर से बंद रहता है, सांकल है, जिस पर ताला जड़ा है। दीवारों में कोई खिड़की नहीं। एक आला है। आले का आकार नौ इंच बाइ एक फुट है। लड़का आले से निकलना चाहे तो नहीं निकल सकता। इस आले के जरिए उसे थोड़ी-सी हवा, थोड़ी-सी धूप मिलती रहती है। इसके अलावा दो-तीन वक्त की रोटी भी इस आले से उस लड़के तक पहुंचती है।

कैद किए गए बच्चे के साथ, बाहरी दुनिया का रिश्ता लगभग खत्म हो चुका है। कोई परिवार का सदस्य जब रोटी देने ऊपर आता है तो लड़के की बेचैनी बढ़ जाती है, वह दरवाजा पीटता है। हुंकारता है, बड़बड़ाता है। लेकिन जाने वाला जा चुका होता है, सीढ़ियां उतरने की आवाज। फिर सन्नाटा। फिर बेबसी। फिर कैद। कोठरी। अंधेरा वह थाली सरकाता है। कुछ खाता है। कुछ फेंकता है। कभी-कभी जब वह बहुत ज्यादा आक्रामक होता है तो आले में रखी थाली को बाहर फेंक देता है। लेकिन यह आक्रामकता खुद उसके लिए नुकसानदायक होती है। सजा के तौर पर उसकी एक वक्त की रोटी बंद कर दी जाती है।

वह हर वक्त आले के पास रहता है। यही रोशनी, हवा और आवाजों का रास्ता है। इसी आले से, वह अपने हिस्से की बहुत सीमित दुनिया को देखता है। कभी-कभी वह आले के पास, अपनी उंगली से कुछ लिखने की कोशिश करता है। किसी ने नहीं पूछा कि वह क्या लिखता है?

ऐसा लगता है जैसे वह हर लड़ाई हार चुका है। हार के निशान उसके चेहरे पर हैं किसी ऐसे जख्म की तरह जो दिखाई नहीं देता। वैसे जख्म का एक बड़ा-सा निशान उसके माथे पर है। एक दिन गुस्से में आकर उसने अपने माथे को दीवार से टकरा दिया था। खून निकल आया था। खून रिसना बंद हुआ तो घाव बन गया। घाव पर मक्खियां भिनकती हैं। घाव भरता नहीं। हरा रहता है।

कभी-कभी वह आले के बीच अपना चेहरा टिका देता है। थक चुकने, टूट चुकने और निढाल हो चुकने के बाद वह ऐसा ही करता है।

तब वह बेबस नजर आता है। हर तरफ शोर-हंगामे, कारों-स्कूटरों के हॉर्न, बच्चों की आवाजें और कोठरी में कैद एक बच्चा।

उसका चेहरा सख्त है आंखें भरी, लाल। पलकें फूली हुई आंखों के नीचे का हिस्सा सूजा हुआ। बाल खिचड़ी। सख्त और मैले। कपड़े बेतरतीब। एक अजीब-सी दुर्गंध पूरे शरीर से। हाथ मोटे खुरदरे। नाखून बढ़े हुए। नाखूनों में मैल।

कभी-कभी वह आले से ओझल हो जाता है। तब वह दरवाजे के पास जा बैठता है। दरवाजे को खटखटाता है, झिंझोड़ता है, जोर से थपथपाता है, दरारों से झांकता है। रोशनी की पतली लकीरें दरारों से छनकर कोठरी से अंधेरे फर्श पर गिरती हैं। वह उन्हें पकड़ने की कोशिश करता है।

कोठरी में बदबू है। मेहतर से हफ्ते में एक बार सफाई कराई जाती है। कोठरी साफ कराना, पूरे घर के लिए बहुत बड़ा अभियान.... बल्कि बहुत बड़ा झंझट होता है। घर के सब लोग इकट्ठा होते हैं- पिता, मां, बहन और बड़ा भाई सब। डर, वितृष्णा, उपेक्षा, दया और तिरस्कार कई सारे भाव होते हैं। पिता के मन में लड़के के प्रति वितृष्णा, तो बहन के मन में दया। मां डरी हुई तो बड़ा भाई तिरस्कार का भाव लिए मुंह बिचकाता, थूकता।

घर के सब लोग मिलकर लड़के के मुंह पर कपड़ा बांधते हैं। इसलिए कि वह अपने दांतों से किसी को काट न ले। वह ऐसा कर भी चुका है। इसलिए हिफाजत के लिए ये कदम उठाए जाते हैं। फिर हाथ बांधे जाते हैं कि वह नाखून न गड़ा दे। फिर टांगें कि वह भाग न खड़ा हो।

वह कसमसाता है। विरोध करता है, गुस्सा, गालियां और बड़बड़ाना। बेशक उसके मुंह पर, कपड़ा बंधा होता है फिर भी वह गालियों जैसी कोई चीज बक देता है।

घर के लोग उसे काबू में कर लेते हैं। यानी उसे पूरी तरह जकड़ लेते हैं। उनमें से कोई तीन-चार बाल्टियां पानी की लगातार लड़के पर डालता है। लड़के के कपड़े भीग जाते हैं। दुर्गंध कुछ कम हो जाती है। मेहतर उसके कपड़े उतारता है। फिर साबुन से नहलाता है। कपड़े बदलता है। वह भारीभरकम शरीर का लंबा-चौड़ा इंसान है। सख्त जान। दिमाग का कोरा। लेकिन भीतर से नर्म। लड़का जरा ऊं-चूं करे तो थप्पड़ गाल पर। घर के लोग लड़के को पिटता देखते रहते हैं। बहन की आंखें नम हो जाती हैं।

लड़के को नहलाने और कोठरी साफ करने के वह आदमी बीस रुपये लेता है। उसे बीस रुपये कम लगते हैं। वह इस गंदे काम को छोड़ भी देता। लेकिन लड़के के प्रति उसके मन में कोई लगाव-सा पैदा हो गया है। मेहतर सफाई करता तब लड़का बंधा रहता। फर्श पर बैठ जाता है। सामने बिछी चारपाई पर बहन बैठी होती है अपने भाई को देखती -अपने भाई संजू को देखती !

संजू से पूरा मोहल्ला भयभीत था। स्कूल, मोहल्ले और परिवार- हर कहीं यह तय हो चुका था कि वह पागल हो चुका है- खतरनाक पागल। उसने तीन-चार बार स्कूल के बच्चों की पिटाई की। अपनी टीचर तक को गाली दी। चिढ़ाया। घर आते वक्त मोहल्ले की लड़की संगीता को जोर का मुक्का मारा और दयालचंद दुकानदार को अड़ंगी मारी। दयालचंद संभल न सका और धप्प-से गिरा। संजू ने स्कूल में अपनी ही नहीं, कई सहपाठियों की भी किताबें फाड़ दी।

संजू की हरकतों से घर के लोग परेशान हो उठे। गंडा-ताबीज। झाड़फूंक। ओपरा उतारने के टोटके सब आजमाए। बीमारी बढ़-गई। अस्पतालों के चक्कर। इलाज लंबा। धैर्य कम। रोजी-रोटी का चक्कर। काम-धंधे की फिकर। फिकर संजू की भी। अच्छा खासा लड़का था। स्कूल जाता था। हर साल इम्तहान पास करता था। घर आकर होमवर्क करता था। खेलकूद में उपद्रव कर बैठता। वैसे तो बिलकुल ठीक था। थोड़ा स्वभाव का गरम। मिजाज का लड़ाकू।

डाक्टरों ने संजू के रोग की जड़ तक पहचान ली। बताया कि उसकी निरंतर उपेक्षा की गई है। संजू ने इस उपेक्षा को भुलाया नहीं। यही उपेक्षा गांठ बन गई। मन पर असर कर गई। संजू का दिमाग असंतुलित हो गया।

मालूम हुआ कि स्कूल का सिस्टम जिम्मेदार है। एक टीचर ने उसे लगातार बिना किसी कारण के बेंच पर खड़ा किए रखा-बीस दिन तक। टीचर आते ही संजू को बेंच पर खड़ा होने के आदेश देता। पढ़ाने लगता। बच्चे पीछे मुड़-मुड़कर देखते-हंसते। संजू का कसूर इतना था कि उसने टीचर से कोचिंग के लिए मना कर दिया था।

एक दूसरी टीचर थी जो संजू की कॉपी चेक ही नहीं करती थी। हुआ यूं था कि एक बार वह अपनी टीचर को देखकर हंस पड़ा था। टीचर ने उसी वक्त संजू को बुलाकर कहा था- "लड़के, तुझे ऐसी सजा दूंगी कि हंसना भूल जाएगा।"

संजू सचमुच हंसना भूल गया था या वह गुस्से में होता या फिर कुछ सोचता। कुछ अनगलि

बोलता हुआ।

सबसे बुरा असर उसके मन पर तब पड़ा जब पूरी क्लास विज्ञान मेले और अप्पूघर घूमने गई। उस पिकनिक में संजू को शामिल नहीं किया गया था। कारण यह कि उस दौरान उसने दो-तीन लड़कों को पीट दिया था और बहाना यह कि वह रास्ते में भी ऐसी शरारतें कर सकता है।

संजू ने अपनी टीचर से बहुत मिन्तें की, बहुत दयनीय भाव से कहा- "मैडम जी, मेरे को भी ले चलो। अकेले मेरे को छोड़कर क्यूं जा रहे हो?... मुझे भी ले चलो मैडम!" कभी वह सर के पास जाता तो कभी मैडम के पास। उसकी सारी प्रार्थनाएं, सारी अर्जियां खारिज कर दी गईं।

संजू के मन में कोई डर जरूर था। इसके बावजूद उसने अपने सहपाठियों से कहा कि वह विज्ञान मेले में जरूर जाएगा.. अप्पूघर भी जरूर जाएगा। उसे कोई भी नहीं रोक सकता। लेकिन उसे रोक दिया गया। वह नहीं जा सका। उसके पैसे दस-दस के पांच नोट जेब में पड़े रह गए। वह उस बस के पास खड़ा रहा जिसे विज्ञान मेले जाना था। बस चली। सहपाठियों ने हाथ हिलाए। किलकारियां मारी। खुश हुए।

संजू कुछ दूर तक बस के पीछे भागा। शायद आखिरी वक्त उसे बस में चढ़ा लिया जाए। लेकिन टीचर-मैडम सब मिलकर संजू को सबक सिखाना चाहते थे।

घर आया तो वह दूसरा संजू था। कुछ-कुछ बौराया। पगलाया। विक्षिप्तों जैसा। उपेक्षा मन पर असर कर गई। दिमाग ने सोचना बंद कर दिया और जो सोचा वह विध्वंसक था। अगले दिन स्कूल जाने का मन नहीं था। लेकिन भेजा गया। बच्चे चहक रहे थे- अप्पूघर, झूले, वाटरफॉल, पॉपकार्न, आइसक्रीम, मस्ती, खुशी...।

संजू ताव खा गया। तीन सहपाठियों से मारपीट की। एक का सिर दीवार से टकरा दिया। मैडम ने रोका तो उनकी बाजू पर इतने जोर का काटा कि खून निकल आया।

टीचरों ने पकड़ने की कोशिश की तो उन्हें धकेल दिया। टीचरों ने कहा- "संजू पागल हो गया है। खतरा है स्कूल के लिए।" बच्चों ने टीचरों की बात दोहराई- "संजू पागल हो गया है। हम सबके लिए खतरा है।"

संजू बदहवास, पगलाया तोड़फोड़ करता। मारपीट करता। किसी जंगली जानवर जैसा। बच्चे संजू को देखते। शोर मचाते "भागो! संजू पागल!.. वो रहा संजू पागल!"

बाहर की दुनिया संजू से डरी हुई थी। अपने भीतर की दुनिया से संजू डरा हुआ था।

संजू से लोग परेशान। संजू से घर परेशान। संजू से स्कूल परेशान। और संजू...परिवेश से परेशान!

अस्पतालों, डाक्टरों और उनकी दवाइयों से भरोसा उठ गया। फिर टोने-टोटके। पीर-पैगम्बर। पुजारी-ज्योतिषी। संजू की हालत बिगड़ती चली गई।

फिर मजनूं के टीले के पास बनी बस्ती एक ओझा से 'इलाज' शुरू हुआ। वह कई ताकतवर जिन्नों से भिड़ चुका था। उसका नाम था, उसकी शोहरत थी। उसने संजू को देखा-परखा। ओझा ने सलाह दी कि इसे कुछ वक्त अकेली बंद कोठरी में डाल दो। उसने यह भी बताया कि यह कैद संजू की नहीं 'जिन्न' की होगी जो संजू के अंदर किसी छाया की तरह मौजूद है। इस कैद में जिन्न को तकलीफ होगी। वह भाग निकलेगा।

यह 'इलाज' सबको जंच गया। ओझा की बात, दरअसल सबके मन की बात थी। सब इसी इलाज से अपनी सुरक्षा महसूस कर रहे थे।

चुनाचे, छत पर छोटी-सी कोठरी बनवाई गई। एक निरपराध बच्चे को कैद कर लिया गया। संजू पिछले ढाई साल से इस कोठरी में बंद था। अब वह सचमुच विक्षिप्त नजर आता था।

परिन्दे आजाद थे, आसमान खुला था, हवाएं स्वतंत्र थीं, पशु खुली चरागाहों में विचरण करते थे, नदियों के पानी पर कोई बंदिश नहीं थी। समुद्रों की अपनी सत्ता थी। यानी कुदरत की सारी कायनात आजाद थी। संजू कैद में था।

बच्चे घूमते, भागते-दौड़ते, खेलते, शोर मचाते, साइकिल चलाते, क्रिकेट खेलते, स्कूल जाते, पढ़ाई करते।... उनका हम उम्र संजू कोठरी में बंद था।

बड़े-बूढ़े लोग पार्कों में घूमते, अफसर लोग कारों से दफ्तर जाते, दुकानदार लोग सड़क पर खड़े होकर हंसते-मजाक करते, अखबार पढ़ते।

दुनिया आजाद लोगों की थी।

कैद में संजू था। संजू जो तेरह या चौदह साल का था। संजू जो सपनों के पंख लगाकर उड़ सकता था- कैद में था। अकेली कोठरी में संजू जी नहीं रहा था। दरअसल वह मर रहा था। वह रोजाना मरता था।

सामान्य और सेहतमंद लोग, अक्सर असमान्य लोगों से इसी तरह का व्यवहार करते हैं। दिक्कतों से छुटकारा हर कोई चाहता है। संजू दिक्कतें पैदा करता था। कोठरी में डाल दिया गया। छोटी बहन ने विरोध किया। मां ने भी प्रतिवाद किया। लेकिन परिवारों में स्त्रियों की बात कोई मायने नहीं रखती।

संजू ढाई साल से इस कोठरी में कैद था और वह मनोरोगी लगता था। कोठरी ऐसी थी जिसमें कोई खिड़की नहीं थी। एक आला था।

संजू मेरे जीवन में कैसे आया...या फिर यूं कहूं कि संजू के नरक तक मैं कैसे पहुंचा, यह घटना भी किसी कहानी जैसी लगती है।

मैं उन दिनों बच्चों के दिमाग पर असर डालने वाली घटनाओं पर अध्ययन कर रहा था। मैंने जब छोटे-छोटे बच्चों के कष्ट संघर्ष और दुख बहुत नजदीक से देखे तो अध्ययन जैसे शब्द, को मैंने अपने दिमाग से निकाल दिया। बस, मैं उनकी दुनिया में प्रविष्ट होता चला गया। मैं कोई मनोवैज्ञानिक नहीं था। लेकिन मेरे जेहन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण जरूर था। समाज का व्यवहार अनाथ, बेसहारा और सड़कछाप गरीब बच्चों के साथ बहुत खुश्क बल्कि क्रूर था। मैंने चाय की दुकानों पर काम करने वाले बच्चे, सर्कुलर ट्रेन में गा-गाकर भीख मांगने वाले, पॉलिश करने वाले, रद्दी बीनने वाले या फिर नई दिल्ली स्टेशन पर लावारिस भटकने वाले बच्चों से बात की। दुनिया का उनके लिए कोई मतलब नहीं था। समाज को वे नहीं जानते थे। पुलिस उनके लिए समाज थी जिससे वे डरते थे। पिच्च करके थूकते थे।

अप्पूघर के बाहर पॉपकार्न बेचते बच्चों और मंहगी टिकट लेकर झूला-झूलते, आइसक्रीम खाते बच्चों के बीच जो फासला था, उसे मैंने बड़ी शिद्दत से महसूस किया। ऐसे तमाम बच्चे खिलंदड़े नजर आते थे। लेकिन वे थे नहीं। उन्हें न मौत का डर था न जिंदगी जीने का उत्साह!

मैं समाजशास्त्र से एम.ए. कर रहा था। बच्चों का व्यवहार और उनका भविष्य मेरे अध्ययन में शामिल थे। बाद में संवेदना और जिज्ञासा जैसे कुछ ऐसे तत्व थे कि मैं बच्चों से जुड़ता चला गया।

रंजन भी एम.ए. कर रहा था। उसका विषय अंग्रेजी था। संजू के बारे में मुझे रंजन ने बताया था। रंजन को संजू की खबर उसके एक दोस्त ने दी थी जो अखबार में था। रंजन जिस दिन संजू के विषय में बता रहा था। हम कॉलेज कंपाउंड में बैठे थे। मैं सकते में आ गया था। एक बच्चे को उसके मां-बाप ने पिछले ढाई साल से एक कोठरी में बंद

कर रखा था। मैंने उसी वक्त फैसला किया था कि मैं संजू से मिलूंगा। रंजन मेरी हालत देखकर हैरान था और मैं संजू के विषय में सोचकर परेशान।

संजू का व्यवहार, उस कोठरी तक पहुंचने का रास्ता संजू के मां-बाप का स्वभाव, संजू के घर का पता ये तमाम बातें रंजन पहले से नोट कर लाया था शायद मेरे लिए!

कोठरी तक पहुंचने में मुझे अच्छी खासी मशक्कत करनी पड़ी थी। जैसा कि रंजन ने बताया था। मैं पड़ोसी शामलाल के घर के रास्ते से होते हुए कोठरी तक पहुंचा। मैं कोठरी से दूर खड़ा था और सामने का दृश्य देखकर भौचक था। लड़के ने दीवार के आले में अपना चेहरा ऐसे सटा रखा था जैसे उसने अपने सर को धड़ से काटकर आले में रख दिया हो। वह लड़का मुझे थका हुआ, निढाल, बीमार, और दयनीय लगता था। उसका चेहरा खुरदरा, आंखें भारी, होंठ मोटे, सूखे हुए थे। उसके चेहरे पर ताजगी ढूंढना और आकर्षण तलाश करना बेमानी था।

''संजू!'' मैंने आवाज दी। उसके चेहरे पर कोई हलचल नहीं हुई लेकिन होंठ थोड़ा-सा कांपे। पलकें एक बार झपकीं। ऐसा लगता था जैसे वह आवाजों के फरेब जानता है। वह कुछ बड़बड़ाया। फिर बड़बड़ाना बंद हो गया।

मैं अपने साथ चॉकलेट और अंकल चिप्स का एक पैकेट ले आया था। मैंने सोचा था संजू को ये चीजें दूंगा तो वह खुश हो जाएगा।

मैंने चॉकलेट हाथ में ली। संशय और दुविधा के बीच मैं कोठरी के बिलकुल पास खड़ा रहा। संजू यथावत् पहले जैसी मुद्रा में। मेरे आने और मेरे कोठरी के बिलकुल पास पहुंचने का उस पर कोई असर नहीं हुआ था।

मैंने बहुत आहिस्ता से कहा, 'हैलो संजू!' मेरी हैलो का उसने कोई जवाब नहीं दिया था। जरा-सा देखा। पता नहीं मुझे या कहीं और।

संजू मुझे बहुत शांत नजर आया। मैंने अपने भीतर हिम्मत जुटाई। आले के पास चॉकलेट रखी और अपना हाथ भी उलटाकर आले के बीच रख दिया। कुछ पल गुजर गए। मैं चीख-सा पड़ा। अचानक उसने मेरे हाथ को अपने नाखूनों से खुरच दिया था। मैं दर्द से बिलबिला उठा। मैंने बिलकुल नहीं सोचा था कि वह ऐसा करेगा। उसके नाखून लंबे सख्त और पैने थे। मेरे हाथ से खून की कई सारी लकीरें नजर आ रही थीं।

लड़का बहुत ज्यादा गुस्से में था। उसने चाकलेट के रैपर को दांत से फाड़ दिया। चॉकलेट के टुकड़े-टुकड़े करके आले के नीचे फेंक दिया। फिर वह दरवाजा पीटने लगा बहुत जोर से लगातार!

कुछ देर पहले लड़का बहुत मासूम नजर आता था। लेकिन अब जटिल और खतरनाक!

दरवाजे को पीटना बंदकर के वह फिर आले के पास आ खड़ा हुआ। उसने अपनी दुड्डी आले में टिका दी। वह पहले की तरह दयनीय, शिथिल, थका हुआ और हताश नजर आता था।

मैं उसे इसी अवस्था में छोड़कर चला आया। मुझे डर था कि उसके घर का कोई सदस्य ऊपर न आ जाए। मैं नहीं चाहता था, मेरे विषय में किसी को पता चले। मैं वापसी पर संजू के विषय में सोचता था। उसका आले में चेहरा टिका कर खड़े होना -बड़ी कातरता के साथ। उसका बड़ी बेरहमी से मेरे हाथ को खुरचना...।

अगले दिन मैं फिर चल पड़ा। संजू की कैद, कातरता और विक्षिप्तता मुझे खींच रहे हों जैसे।

वह शायद दरवाजे के साथ टिककर बैठा था। मेरी आहट सुनकर आले के पास चला आया।

मुझे देखकर उसके चेहरे की नसें तन गईं। उसने दांत पीसे। बड़बड़ाया। आज वह कल से ज्यादा आक्रामक लग रहा था। आज मैं उससे डर रहा था। मेरी हिम्मत नहीं हो रही थी कि उसकी कोठरी के पास जाऊं। कोठरी के सामने जो चारपाई पड़ी थी, मैं उस पर बैठ गया। गरमी थी। बेशक मैं छांव में बैठा था। हवा चल रही थी। हवा में तपिश थी। कोठरी में ज्यादा गरमी होगी। सिवाय आले के हवा आने का कोई रास्ता नहीं था। मैंने संजू को देखा। उसका चेहरा पसीने से लथपथ था। मुझे उसकी आक्रामकता के कारण समझ आने लगे थे। बेशक किसी निष्कर्ष पर पहुंचना जल्दबाजी होती।

मेरे पास कल वाला अंकल चिप्स का पैकेट था। मैंने मौका देखकर पैकेट आले में रखा। वह कुछ देर अंकल चिप्स के पैकेट को देखता रहा। फिर उसने जोर का मुक्का मारा। पैकेट फट गया। चिप्स बिखर गए। वह कुछ का कुछ बोल रहा था। उसके मुंह से झाग निकल रही थी। उसने जोर से दरवाजा पीटना शुरू किया। मैं डर गया। सचमुच मुझे डर लगने लगा। डर संजू से और डर यह कि आवाज सुनकर कोई आ न जाए।

अचानक चुप्पी पसर गई। जैसे सब कुछ ठहर-ठिठक गया हो। वह आले के पास आ गया।

मैं लगातार कई दिन तक जाता रहा। अक्सर दोपहर को जाता ताकि छत पर कोई न आए। बेशक गरमी होती। कई दिन तक मैं खाली हाथ जाता रहा। कभी चारपाई पर बैठ जाता तो कभी आले के पास चला जाता। मैं देखता। उसने आले में अपना चेहरा टिका रखा होता। वही बेबसी। वही कातरता।

एक दिन मैंने फिर जिद ठान ली। डर, संशय, जिद, सतर्कता बहुत सारी बातें थी मेरे मन में। मैंने आले में अपना हाथ रख दिया। मैं तैयार था। इस बार पूरी तरह से तैयार। वह झपटता तो मैं हाथ खींच लेता।

मैं आश्चर्यचकित था। मेरा हाथ आले में था उसके चेहरे के बिलकुल पास। वह मेरे हाथ को देख रहा था। फिर धीरे-से उसने अपना हाथ मेरे हाथ पर रख दिया। मैं सिहर उठा। मेरे अंदर जैसे झम-झम बरस पड़ा हो कुछ। मैं पुलकित हुआ। मेरे दिल ने गवाही दी हो जैसे यह लड़का मनोरोगी हो सकता है, खतरनाक पागल तो बिलकुल नहीं।

मैं लगभग रोजाना जाता। पता नहीं क्या चीज थी जो मुझे चुनौती जैसी लगती- संजू...कोठरी या लोगों का व्यवहार?

मुझे इस बात का अहसास था कि लड़के ने अब तक मेरी किसी चीज को छुआ तक नहीं था। इतना जरूर था कि वह मुझे पहचानने लगा था। मैं चारपाई पर बैठता तो वह टकटकी लगाए मुझे देखता रहता। या फिर दरवाजे को पीटता। मैं बहुत बाद में समझा कि ये हरकतें, उसकी भीतरी दुनिया की इच्छाओं से तआल्लुक रखती हैं। वह दरवाजा इसलिए पीटता था कि वह बाहर निकलना चाहता था। आजाद होना चाहता था। वह अपनी प्रतिक्रिया मेरे सामने व्यक्त करता था।

पता नहीं क्या सोचकर एक दिन मैंने गुलेल ली। छोटे-छोटे पत्थर जेब में भरे। संजू से मिलने चल पड़ा। छत पर पहुंचकर मैंने गुलेल हाथ में पकड़ी। आसमान में निशाना बांधते हुए मैंने पत्थर उछाल दिया। फिर दूसरा...फिर तीसरा पत्थर...।

''ला...ला मेरे को दे गुलेल।...मेरे को दे।...दे न!'' अचानक आवाज आई। कोठरी में से आवाज। संजू की आवाज। न बुदबुदाना। न बड़बड़ाना। साफ आवाज। आवाज बेशक खुरदरी...खराशजदा। लेकिन लफ्ज साफ।

मैं संजू की आवाज सुनकर उछल पड़ा। ऐसी किसी स्पष्ट आवाज के लिए मैं अरसे से बेचैन था।

उसने आले में से हाथ को बाहर निकाला। मैंने गुलेल उसके हाथ पर रखी और छोटे-छोटे पत्थर

आले में। आले में से निशाना बांधता और गुलेल चलाना मुश्किल काम था। लेकिन वह गुलेल में पत्थर रखकर निशाना बांधता। पत्थर वेग के साथ ऊपर की तरफ उछलता। बदहवास, हताश, थका-थका, निढाल, कुंठित और आक्रामक नजर आने वाला संजू चहक रहा था। पत्थर उछलता। वह खुश होता। हंसता। मैंने उसे पहली बार हंसते देखा। पहली बार बच्चों जैसी चंचलता।

मैं वापस आने लगा तो वह फिर हताश हो गया। गुलेल का तिलिस्म टूट चुका था। गुलेल उसके हाथ में झूल रही थी।

मेरा बस चलता तो मैं उसे तुरंत मुक्त कर देता। आकाश, हवा, नदियां, छांव, पक्षी, उसके नाम कर देता। मेरा बस चलता तो मैं उसे लंबी सैर पर ले जाता। आसपास के सारे मॉल उसे दिखाता।

फिर एक दिन मैं जलेबी ले गया। बारिश का दिन था। जलेबी बारिश में अच्छी लगती है। शायद संजू खा ले। वैसे उसने मेरी कोई चीज नहीं खाई थी।

मैं चारपाई पर बैठकर जलेबी लिफाफे में से निकालकर खाने लगा। संजू आले में ठुड्डी टिकाकर मुझे देख रहा था। मैं जलेबी खा रहा था। उसके देखने में कोई हसरत थी, कोई इच्छा। कुछ देर तक वह मुझे यूं ही देखता रहा। अचानक वह बोला, ''जलेबी खा रहा है?''

''हां।'' मैंने कहा।

''मेरे को देगा?'' उसने पूछा। मैं इसी सवाल के इंतजार में था।

''फेंक तो नहीं देगा?''

''नई।''

''सच्च कह रहा है न?''

''हां बिलकुल सच्ची कै रआ हूं।''

मैंने जलेबी का लिफाफा उसके सामने रख दिया। ढाई सौ ग्राम जलेबी वह एक मिनट में चट कर गया। उसका खाने का तरीका अच्छा नहीं था। खाते-खाते उसकी खांसी छूट पड़ी। वह बहुत देर तक खांसता रहा। मेरे पास पानी की बोतल तो थी। लेकिन वह खाली हो चुकी थी। कुछ देर बाद उसकी खांसी थम गई। ऐसी बंद और गंदी कोठरी में रहते हुए उसे खांसी तो क्या और भी कई सारी बीमारियां हो चुकी होंगी- मैंने सोचा।

उसकी खांसी थम चुकी थी। लेकिन वह हांफने लगा था। थक-सा गया था खांसते-खांसते। उसने अपना चेहरा आले में टिका दिया। मैं उसके माथे को सहलाने लगा। फिर मैंने उसे पुचकारते हुए उसके गाल सहलाए। गालों के पास मुझे कुछ गीला-सा महसूस हुआ। मैंने देखा वह रो रहा था। मैंने अपनी उंगली से उसकी आंखों के कोर पोंछे। उसकी आंखें बार-बार भीग रही थीं। मैं उसके आंसू पोंछ रहा था।

पागल पुचकारने पर रोते तो नहीं? मैंने अपने आप से सवाल किया।

मैंने उसके गाल से अपना हाथ हटाना चाहा तो उसने अपने हाथ से मेरी कलाई पकड़ ली। मुझे अच्छा लगा। स्पर्श का अनुभव पवित्र रिश्ते की तरह होता है। मैं उसे देखने लगा। अपनी भीगी आंखों के साथ वह भी मुझे देख रहा था।

अचानक उसने अपने दोनों हाथों से मेरे हाथ को पकड़ते हुए कहा, ''दरवज्जा खोल दे न!... मेरे को बाहर निकलना है।''

उसकी आवाज लरजती हुई थी- गमजदा और थकी हुई।

''मेरे पास चाबी नहीं है। दरवज्जे पर ताला लगा है।'' मैंने सफाई दी। वैसे यह सफाई नहीं थी। अपने आपको जोखिम से बचाकर निकलने का बहाना था।

''ताला तोड़ दे।'' उसने मेरी तरफ देखते हुए कहा। उसकी बेबसी को मैं साफ-साफ महसूस कर सकता था।

''ताला तोड़कर दरवाजा खोलूं...और तू भाग गया तो?'' मेरी बात सख्त थी।

मैं उस पर शक कर रहा था। इतने दिनों की दोस्ती को मैंने एक पल में खत्म कर दिया था। मेरी बात सुनकर वह कुछ देर मुझे देखता रहा। वह पहले से कहीं ज्यादा बेबस, कहीं ज्यादा बेदम नजर आने लगा था। फिर उसने दरवाजा खोलने की जिद नहीं की।

वह मुझे देखता रहा। उसकी उम्मीदों का आसमान नीचे आ पड़ा हो जैसे। वह कुछ देर बाद आले से हट गया। मुझे लगा वह बहुत जोर से दरवाजे को पीटेगा। लेकिन वह चुपचाप दरवाजे के पास जा बैठा।

मैं अचकचाया-सा खड़ा रहा। जैसे मेरी कोई कीमती चीज छिन गई हो। मुझे पछतावा हुआ। मैं वापस आ रहा था। मैं उसे बाहर नहीं निकाल पाया था। निकालता तो वह अच्छा महसूस करता वह मुझ पर विश्वास करने लगता। मैंने मन ही मन तय किया कि अगली बार उसे जरूर बाहर निकालूंगा।

कुछ दिन मैं संजू के पास जा नहीं पाया। बेशक, हर वक्त मुझे संजू का ध्यान आता रहा। बंद कोठरी में कैद संजू। संजू, जिसे मैं नजर आया था मुक्ति की राह के रूप में।

मैं उसके लिए क्रिकेट का बैट और बॉल ले जाना चाहता था। लेकिन एक दिक्कत थी। अगर मैं उस कोठरी का ताला न खोल सका तब संजू को बाहर रखे बैट-बॉल कैसे महसूस होंगे। वह बैट को देखकर और ज्यादा बेचैन हो उठेगा।

बैट का ख्याल मैंने अपने जेहन से तर्क कर दिया और एक अच्छा-सा लकड़ी का लट्टू खरीदा। बचपन में लट्टू चलाना मुझे बहुत अच्छा लगता था। शायद संजू को भी अच्छा लगे।

मैं शामलाल जी के घर से होकर छत पर जाने लगा तो शामलाल मुझे देखकर बोले, ''दोस्त से मिलने जा रहे हो?''

मैंने हां में सिर हिलाया। आज वे घर पर थे। इससे पहले उनसे कभी मुलाकात नहीं हुई थी। मैं ठिठककर खड़ा रहा। उनकी बात में कुछ अर्थ था। दोस्त शब्द उन्होंने शायद जान-बूझकर कहा था। मेरा मजाक उड़ाने के लिए या फिर संजू का।

''कुछ फर्क नजर आता है?'' उन्होंने पूछा।

''अभी कुछ कह नहीं सकता।''

''बहुत दिन हो गए हैं तुम्हें आते।'' उन्होंने कहा।

''सर, मेरे इधर आने से खलल पड़ता हो तो आना बंद कर दूं।'' मैंने कहा। मैं डर रहा था अगर उन्होंने कह दिया कि कल से इस रास्ते से ऊपर मत जाना तो फिर क्या करूंगा?

''नहीं, वह बात नहीं। तुम नेक काम में जुटे हो। इतनी गरमी में तुम रोजाना आते हो। इधर से जरूर आओ-जाओ।....दखल की क्या बात है।''

मैं उनका आभार व्यक्त करता सीढ़ियां चढ़ गया। बेशक पेचकस मेरे झोले में था। लेकिन ताला तोड़कर संजू को बाहर निकालने का इरादा मैं मुलत्वी करते हुए फर्श पर लट्टू चलाने लगा। कुछ काम बचपन के होते हैं। बड़े होते-होते वे तमाम काम हम भूल जाते हैं जैसे तितलियों के पीछे भागना, जैसे जुगनू को मुट्ठी में बंद करना, जैसे बिजली के तार से पतंग छुड़ाना, जैसे लंगड़ी दौड़ दौड़ना, जैसे स्टापू खेलना और...और जैसे लट्टू चलाना।

मुझसे लट्टू नहीं चल पाया था। कभी हाथ से फिसल जाता। कभी नाड़ा नहीं खुल पाता था। कभी नाड़ा लट्टू के साथ ठीक नहीं बंध पाता था।

हर बार कोई न कोई झंझट!

मैंने कनखियों से देखा। संजू आले में चेहरा टिकाए मुझे देख रहा था। बहुत व्यग्र नजर आता था।

अचानक वह अपना हाथ आले में से निकालकर बोला, "मेरे को दे लट्टू!... ला, मेरे को दे। तेरे से नी चलने का।"

संजू इतने सारे वाक्य बिना रुके एकदम साफ और स्पष्ट बोल गया था। वह मुझे देखकर अब न गुर्राता था, न बड़बड़ाता था।

मैंने बेझिझक लट्टू उसके हाथ पर रखा। मुझे देखकर जरा-सा हंसा। एक पल के लिए वह आले से ओझल हो गया। दूसरे पल वह नजर आया। आले से हाथ बाहर निकालकर उसने कहा, "देख ...देख लट्टू को।"

वह पुलक रहा था और मैं उसके हाथ पर नाचते हुए लट्टू को देख रहा था।

मैंने संजू को देखा। लट्टू को वह कभी हाथ पर तो कभी आले में घूमाता। उसको देखता। हंसता। लट्टू थामने लगता तो उसे मुट्ठी में दबा लेता। उसकी आंखों में चमक थी। बुझी हुई आंखों में ऐसी चमक मैंने पहली बार देखी थी।

अचानक लट्टू उसके हाथ पर नाचते-नाचते बाहर छत पर जा गिरा। मैं लट्टू उठाने पलटा। मैंने लट्टू उठाया। संजू को मैं लट्टू देने लगा तो उसने मेरी बाजू पकड़कर याचना करते स्वर में कहा, "भैय्या! मुझे बाहर निकाल।"

भैय्या संबोधन सुनकर मैं सिहर उठा। मन में कुछ रिसने लगा। आंखें जैसे भीग-सी गईं।

वह बाहर निकालने की याचना कर रहा था और मैं दुविधा में था।

अब वह बोल नहीं रहा था सिर्फ मुझे देख रहा था। जैसे फरियादी फरियाद करके चुप हो गया हो।

"भाग तो नहीं जाएगा संजू?" मैंने डरते-डरते पूछा।

"नई...बिलकुल बी नई।" उसने कान पकड़ते हुए कहा।

मैंने झोले में से पेचकस निकाला। उत्साह, उम्मीद, डर, संशय बहुत कुछ था मन में। एक बच्चे की आजादी की आकांक्षा का प्रश्न सबसे अहम था। यही सोचकर मैंने ताले में पेचकस डाला कि वह खुल गया। दरअसल कोई खराब ताला सांकल पर भिड़ा रखा था। जो जरा से दबाव पर खुल जाता था।

मैंने दरवाजा खोला। मैं सचमुच डर रहा था। कहीं उसने मुझ पर वार कर दिया तो?...कहीं अपने दांतों से मुझे काट खाया तो?...

कहीं मुझे चकमा देकर भाग खड़ा हुआ तो?

लेकिन वह मेरे सामने खड़ा था- हैरान-सा! मुझे देखता। शायद उसे पकड़कर या बांधकर निकाला जाता था। आज वह बंधनमुक्त था। वह चहककर बोला, "अच्छे भैया!"

मैं मुस्कराया। वह हंसा। बेशक उसकी हंसी बेतरतीब थी। कई बार वह ऐसे भी देख लेता था कि लगता था कि कोई असामान्य बात अब भी उसमें है।

मैंने लट्टू उसके हाथ पर रखा। मैं पूरी तरह सतर्क था। मेरी सर्तकता से अनभिज्ञ लट्टू चला रहा था खुली छत पर मजे में। हंसते-चहकते हुए।

मैंने कोठरी में झांककर देखा। अजीब तरह की दुर्गंध थी। जिसे सहन नहीं। किया जा सकता था। मैंने झटपट बाहर की तरफ मुंह किया। साफ हवा में सांस ली। दुर्गंध जैसा कुछ संजू में भी था। वह मेरे पास होता तो बू-सी आती।

संजू भूल गया कि वह कोठरी में कैद था। मैं भूल गया कि मैं किसी गैर घर में, किसी गैर की छत पर खड़ा हूं और उस बच्चे के साथ खेल रहा हूं। जिसे कोठरी में से मैंने निकाला है किसी की अनुमति के बिना!

कुछ पल के लिए वह रुका। थोड़ा हांफने लगा। बोला, "खाने के लिए कुछ लाया है क्या?"

मैं मुस्कराया। सोचने लगा। अजब करिश्मा है। यही संजू मेरी हर चीज को फेंक दिया करता था। आज मुझसे खाने के लिए मांग रहा है। संयोग से मेरे पास बिस्कुट का पैकेट था। मैंने झोले में से निकालकर उसके हाथ में पकड़ाया। वह बिस्कुट खाता। लट्टू को घुमाता। हंसता मुझे देखता। मैं भी उसकी हंसी में अपनी हंसी मिलाता।

हम दोनों खेल में व्यस्त थे कि कुछ अप्रत्याशित-सा घट गया। छत पर संजू की बहन आ गई। उसे देखकर मैं घबरा गया। लेकिन संजू बड़े उत्साह के साथ बोला, दीदी, देख लट्टू...कैसे घूमता है।"

संजू की बहन कभी मुझे देखती कभी संजू को। मैं कुछ देर चुप रहा। जैसे कोई जुर्म किया हो और रंगे हाथों पकड़ लिया हो किसी ने!

मैं चुप था और संजू की बहन हैरान! अपने भाई को देखकर। इस तरह खुला। चहकता। लट्टू घुमाता। अचानक बहन को देखकर बोला, "दीदी, मेरे को भैय्या ने बाहर निकाला है।...तू मेरे को दुबारा बंद तो नहीं करेगी?"

संजू की बहन एकटक अपने भाई को देखती रही। उसकी आंखें नम थीं गला रुंधा हुआ। वह रुंधे गले से बोल रही थी, "संजू तू बहुत अच्छा है।"

संजू की बहन भावविभोर थी। अपने भाई को वह कोठरी के बाहर खड़ा देख रही थी साफ स्पष्ट बातें करते। खेलते और हंसते हुए।

अपनी बहन की बात सुनकर संजू तत्काल बोला, "दीदी, भैय्या बोत अच्छे हैं।" उसने मेरी तरफ देखा। मुझे उसका उद्‌गार अच्छा लगा। उसकी दीदी ने मुझे कृतज्ञ भाव से देखा।

"संजू को इतना नार्मल... इतना कूल देखकर मुझे अचंभा हो रहा है।" संजू की बहन ने मुझे देखते हुए कहा। वह फिर बोली, "संजू को इस अवस्था में देखकर मुझे बहुत खुशी हो रही है क्या बताऊं कितनी ज्यादा।"

"खुशी की बात तो है, पर आप इसे साइकियाट्रिस्ट के पास जरूर ले जाना।" मैंने कहा।

"जरूर ले जाएंगे। लेकिन एक बात बताइए?"

उसने पूछा।

"क्या?" पता नहीं वह क्या पूछना चाहती थी।

"संजू की इतनी ज्यादा अटैकिंग नेचर थी। हम सबके लिए वह खतरनाक हो चुका था।"

वह कह रही थी। मैं सुन रहा था। वह फिर अपनी आपबीती सुना रही हो जैसे, "हम घर के लोग तो हार मान बैठे थे। आपने कैसे ठीक किया संजू को?"

"दोस्त बनकर।" मैंने कहा। थोड़ा-सा हंसा। वह भी मुस्कराई।

मैंने झोला उठाया। जिस रास्ते से मैं रोजाना आता था उसी रास्ते से जाने लगा। एक बार मैंने मुड़कर देखा संजू की बहन मुझे देख रही थी। और संजू लट्टू चलाना छोड़कर मुझे बुला रहा था- "भैया!" लेकिन तब तक मैं गली में आ चुका था।

मुझे पूरी अम्मीद है संजू... जिसका पूरा नाम संजय शर्मा था, अब स्कूल जाने लगा होगा। □

# प्राकृतिक सौंदर्य और उसकी अनूठी संस्कृति

1. **पिघलेगी बर्फ** (उपन्यास) : कामतानाथ; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-110006; पृष्ठ : 206; मूल्य : 155 रुपये।
2. **त्रिवेणी** (उपन्यास) : विजयदान देथा; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-110006; पृष्ठ : 291; मूल्य : 220 रुपये।

कामतानाथ का नवीन उपन्यास *पिघलेगी बर्फ* का शिल्प इतना रोचक और कथ्य इतना रोमांचक है कि यह रचनाकार से अलग अपनी पहचान स्थापित करता हुआ प्रतीत होता है और इस अर्थ में इसे हिंदी का बिल्कुल नया उपन्यास कहा जा सकता है जिसमें कहीं से कुछ उधार नहीं लिया गया है और इसके समक्ष कोई आदर्श भी नहीं है। इसमें मुख्य रूप से बर्फ से ढके तिब्बत के प्राकृतिक सौंदर्य और उसकी अनूठी संस्कृति का भव्य चित्रण हुआ है और चीनी आक्रमण के समय उसकी त्रासद अवस्था का स्पष्ट विवरण है। उपन्यास का नाम प्रतीकात्मक है जो तिब्बत की परंपरागत संस्कृति की वापसी का संकेतक ज्ञात होता है।

आत्मकथात्मक शैली में वर्णित यह उपन्यास अनाम नायक की यात्रा कथा है। औपचारिक रूप में इसमें कोई विभाजन दृष्टि नहीं है, किंतु अंदर ही अंदर यह तीन फांकों में विभक्त है। ऐसा लगता है कि यह एक ही व्यक्ति के तीन जन्मों की कथा है। नायक का चरित्र पृथ्वी की तरह गोल है जिसके आरंभिक क्रियाकलाप से उसके भविष्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। उसके चरित्र में निरंतर बदलाव पाठकों की उत्कंठा को जागृत रखता है जो उपन्यास की समाप्ति के बाद ही उसका दामन छोड़ता है।

कथा नायक लाहौर के एक नामी घड़ीसाज का बेटा है। उसको अपनी मां के घर-परिवार का कोई पता-ठिकाना मालूम नहीं है, किंतु वह पूर्वोत्तर भारत की चिपटी नाकवाली एक खूबसूरत महिला है। उसका बाप बहुत क्रोधी है। एक दिन उसके हाथ से एक घड़ी गिरकर टूट गई। इसी कारण उसके बाप ने उसे बहुत पीटा और वह भागकर फौज में भर्ती हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध का समय था। ट्रेनिंग के बाद उसे सिंगापुर भेज दिया गया जहां अंग्रेजी सेना की हार हो गई और उसे जापानियों के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसी समय आजाद हिंद फौज का गठन हो रहा था। जापानियों के कैदी हजारों भारतीय सिपाही आजाद हिंद फौज में शामिल हो गए।

लड़ाई के दौरान हताश कथानायक अपने साथ नूरबख्स के साथ रात में घर की ओर भाग चला। घने जंगलों, दुर्गम पहाड़ों और तीव्रगामी नदियों को पार करता हुआ वह आगे बढ़ता रहा। इस बीच झरने में स्नान करते समय नूरबख्स के पांव फिसल गए और वह तेज जलधारा में लापता हो गया। उसका कोई अता-पता नहीं मिलने पर वह अकेले आगे बढ़ने लगा। दुर्भाग्य से वह जूड़ी बुखार से पीड़ित हो गया। वह एक चट्टान पर लेट गया और कई दिनों तक बेहोश पड़ा रहा। जब होश आया तो उसे लगा कि 'चट्टान चल रही है।' यहीं से उसकी दूसरी जिंदगी की कहानी शुरू होती है।

उपन्यास का दूसरा खंड नायक और नीमा के प्रेम में डूबा हुआ है। इसमें तिब्बत के नैसर्गिक भू-परिदृश्य और उसकी अनूठी संस्कृति का अनोखा चित्रण हुआ है। नीमा और नायक का विवाह उनके आनंद का शिखर है। उसके बाद अवरोह है।

तिब्बत की मुक्ति के नाम पर चीन की लाल सेना के आक्रमण से चारों ओर आतंक छा गया। लोग घर छोड़कर भाग चले। देखते-देखते 'एक पूरी संस्कृति दुनिया के नक्शे से गायब हो गई।' नायक और नीमा को भी भागना पड़ा। भारत जाने के पारंपरिक मार्ग पर चीनियों का पहरा था। उन्हें कठिन सुनसान मार्ग से निकलना पड़ा। रास्ते में उसके नन्हें पुत्र की मृत्यु हो गई। दिल्ली पहुंचने पर नीमा भी चल बसी और फिर वह अकेला बच गया।

उसके जीवन के तीसरे अध्याय का आरंभ हुआ तो उसने चौकीदारी करते हुए पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर ली और उपयुक्त नौकरी नहीं मिलने पर ज्योतिष का धंधा शुरू कर दिया जिससे इतनी कमाई हुई कि उसे जीवन में और कुछ करने की आवश्यकता नहीं रही। वह उस अनैतिक धंधे को छोड़कर भारत-भ्रमण करने चला गया और अंत में उपन्यासकार के नगर में आकर बस गया।

नायक की आत्मकथा का श्रोता स्वयं उपन्यासकार है। उपन्यास के आरंभ में ही वह कथानायक से पूछता है, 'ज्योतिष आपने कहां से सीखी?' इसी प्रश्न का उत्तर वह अपनी पूरी कहानी कहने के बाद देता है। अपने श्रोता से वह तिब्बती भाषा में विदा लेता है, 'कल्पे आ' जिसका शाब्दिक अर्थ है 'धीरे-धीरे जाना' और वास्तविक अर्थ है 'तुम्हें मन की शांति मिले'।

इस अनूठे उपन्यास के रोम-रोम में रोचकता और उत्सुकता को जाग्रत रखने की क्षमता है। कथा की समाप्ति के बाद भी यह ज्ञात नहीं होता कि इसका वक्ता कौन है, किंतु पाठ के बाहर कुछ भी नहीं है। उपन्यासकार इसके प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द और यहां तक कि प्रत्येक विराम चिह्न में मौजूद है। □

# राजस्थानी रचनाओं का हिंदी रूपांतरण

कितनी मोहकता है उन लोककथाओं में जो वेद की तरह 'श्रुति' बनकर आज भी जीवंत हैं। क्षेत्रीय भिन्नताओं के कारण उनमें कुछ बदलाव अवश्य हुए हैं, किंतु उनमें कोई मौलिक अंतर नहीं दिखाई पड़ता। राजस्थानी और हिंदी के शीर्षस्थ कथाकार विजयदान देथा की *त्रिवेणी* उनकी राजस्थानी रचनाओं का हिंदी रूपांतरण है जिनमें कुछ मनोरंजक लोककथाओं को आधुनिक संदर्भ में संस्कारित किया गया है। *त्रिवेणी* में उनका पुनर्जन्म हुआ है। देथा जी ने लघु लोककथाओं को लघु उपन्यासों में परिवर्तित कर दिया है। यह उनकी विशिष्टता है। वे वस्तुत: आधुनिक युग के 'गुणाढ्य' हैं।

*त्रिवेणी* के अंतर्गत 'तीड़ाराव', 'इस्टू खां' और 'भगवान की मौत' तीन उपन्यासिकाएं संकलित हैं। तीनों का आधार संयोग है। पहली और तीसरी में संयोग के साथ अंधविश्वास भी जुड़ा हुआ है। तीड़ा परिहार (चर्मकार) है। उसके पुरखे बेगार के साथ बेजा बुनने का काम करते हैं। तीड़ा रूपवान और श्रेष्ठ भजनियां है। उसे कोई रैदास भगत और कोई रामदेव बाबा का अवतार मानते हैं। वह जिस

मंडली से जुड़ जाता है। उसका महत्व बहुत बढ़ जाता, 'जैसे कंधों के बीच असली सोना चमक रहा हो।' किंतु, तीड़ा छद्म संत है। उसके चरित्र की बुनाई सच और झूठ के श्वेत श्याम रंगों से हुई है।

तीड़ा का पिता ठाकुर की घुड़सवारी की लीद उठाने का काम करता है। किसी कारणवश उसे मुर्गा बनाकर बेंत लगवाई जाती है। इससे तीड़ा आंदोलित हो जाता है और भक्ति की ओट में अपने अस्तित्व को छिपाकर आतताइयों से बचने की चेष्टा करता है।

'तीड़ा राव' की कथा में संयोगों की एक शृंखला खड़ी कर दी गई है। मानो अनेक संयोग प्रधान कथाओं को एक साथ जोड़ दिया गया है। तीड़ा तिल का तार बनाने में माहिर है। वह बरगद के पेड़ के नीचे मिली मटकी में अपने कपड़े डालकर वर्षा में नंगे बदन यात्रा करता है और सूखे कपड़े पहनकर संध्याकाल ससुराल पहुंचता है। यहीं से उसका चमत्कार शुरू हो जाता है जो ठहरने का नाम ही नहीं लेता। लोग उसे कलियुगी अवतार मान लेते हैं। वह तभी ठहरता है, जब उसका विवाह राजकुमारी के साथ हो जाता है और वह एक साथ दो राज्यों का स्वामी बन जाता है। तीड़ा का पिता उसे तिलक लगाता है और कहता है, 'तीड़ा बेटे, तुम्हारे लिए आज भले चरम शुभ दिन हो पर मेरे लिए सोने का सूरज तभी उगेगा जब इस राज्य में किसी मनुष्य बंदे को मुर्गा नहीं बनना पड़े...।'

'इस्टू खां' में कथाकार ने सोने का सूरज उगाने की भरपूर कोशिश की है। यह उपन्यासिका देथा जी के आदर्शों का शिखर है। इसके अंत में वे स्वयं कहते हैं, 'लेखक के नाते मेरे मन में आदर्श इंसान, आदर्श समाज और राज्य की जैसी अकुलाहट है, उसे दरसाकर तुष्ट हुआ, जिस तरह पानी से छलकते बादल बरसकर तुष्ट होते हैं, धरती हरियाली छितराकर तुष्ट होती है।'

मिस्टू खां का बेटा इस्टू खां हरियाली का प्रेमी है। कठियारा होते हुए भी वह हरी डाल का दतौन कभी नहीं तोड़ता। वह बेहद खूबसूरत है, शाहजादे जैसा। वह सच्चाई का पैगंबर और प्यार का मसीहा है। लोग उसे बहुत प्यार करते हैं। मिस्टू खां कठियारी के साथ जड़ी-बूटी से उपचार करता है। एक बार ठाकुर के कुंवर को नाग ने डंस लिया, तो वह उसी के उपचार से बच पाया। इसके बदले में उसे सात गांव की जागीर लेने के लिए कहा गया तो उसने यह कहकर इंकार कर दिया कि 'इसके एवज में कुछ भी मंजूर किया तो इसके बाद सांप काटे का जहर उतार नहीं सकूंगा।' इस्टू खां ने कठियारी शुरू की तो मिस्टू समाज सेवा में जुट गया।

संयोग की बात है कि इस्टू को झाड़ी में एक हार मिला। उसी समय लक्खी बनजारे का हुजूम रास्ते से गुजर रहा था। उसकी हैसियत ऐसी थी कि बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं से उसका बराबरी का ताल्लुक था। दिल्ली के बादशाह से उसका नजदीकी रिश्ता था। इस्टू को लगा कि हार उसी की बीवी का है। वह दौड़ता हुआ उसे देने गया तो बनजारिन ने दर्प के साथ यह कहकर उसे लेने से इंकार कर दिया कि 'यह अमानत अब तुम्हारी है। झाड़ी में भूल गई तो भूल गई।' इस्टू ने भी उसे लेने से मना कर दिया। उसकी मान्यता है कि 'लोभ का जहर सांप के जहर से भी हजार गुना ज्यादा जहरीला होता है।' अंत में यह तय हुआ कि हार बादशाह को भेंट कर दिया जाए। फिर उपहारों के आदान-प्रदान का दौड़ बहुत लंबा चलता है जिसमें बनजारा मुख्य भूमिका निभाता है। यह दौड़ दिल्ली की शाहजादी के हस्तक्षेप से समाप्त होता है जो इस्टू पर कुर्बान हो चुकी है, क्योंकि उसे बनजारिन से उसके रूप-रंग, त्याग-तपस्या, दया एवं करुणा की पूरी जानकारी मिली हुई है।

बनजारा और बनजारिन के सहयोग से इस्टू की शादी शाहजादी से होती है और वह दिल्ली का बादशाह बन जाता है। बादशाह बनने के बाद वह घोषणा करता है, 'जिस देश में मेहनत और पसीने की कद्र न हो, वह कभी तरक्की नहीं कर सकता।...मेरा कोई मजहब या धर्म नहीं है। इंसान के रूप में पैदा हुआ और आजीवन इंसान बना रहकर ही जिंदगी बसर करूं। मनुष्य के लिए सबसे बड़ा कर्म और धर्म यही है।' देथा जी का इस्टू खां आदर्श इंसान है, बुद्ध और महावीर की तरह। उनका आदर्श समाज और राज्य अति कल्पना है, रामराज्य अथवा कार्ल मार्क्स के राज्यविहीन समाज की तरह।

'भगवान की मौत' का नायक तीड़ा बामन के जीवन में तीड़ा राव की तरह कई संयोग घटित होते हैं। दोनों में अंतर इतना है कि तीड़ा बामन सच्चाई का पक्षधर है। कथाकार यह प्रदर्शित करना चाहता है कि सच्चाई के ऊपर झूठ का बोलबाला है। 'भगवान की मौत' सच्चाई की मौत है।

*त्रिवेणी* की शैली में गजब का विस्तार है। यह व्यास शैली का प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसकी भाषा में राजस्थानी के शब्दों को हीरे-मोती की तरह सजाया गया है। उपन्यासिकाओं के इस संकलन में जीवन का यथार्थ उद्घाटित हुआ है और उसे समाने का भी प्रयत्न किया गया है। कथाकार की मान्यता है, 'चूक समझने वालों में नहीं ज्यादातर समझाने वालों में रहती है।'

**—देवेंद्र नाथ ठाकुर**

## बंदूक की नाल में गिरह बांधने का पैगाम

**पाकिस्तान डायरी** : जाहिदा हिना, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली-2, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ : 150; मूल्य : 150 रुपये।

बड़ी शिद्दत से हिंदुस्तान और पाकिस्तान के 'एक हो जाने' का स्वप्न देखने वाले विख्यात शायर मुनीर नियाजी ने इस मसले पर एक मार्मिक नज़्म लिखी थी, जिसकी कुछ पंक्तियां यों हैं :

*कह भी दे अब वो सब बातें*
*जो दिल में पोशीदा हैं*
*सारे रूप दिखा दे मुझको*
*जो अब तक नादीदा हैं*
*एक ही रात के तारे हैं हम*
*दोनों इसको जानते हैं*
*दूरी और मजबूरी क्या है*
*इसको भी पहचानते हैं*
*फिर क्यों दोनों मिल नहीं सकते*
*क्या यह बंधन टूटा है*
*या कोई खोट है तेरे दिल में*
*या मेरा गम ही झूठा है।*

पाकिस्तान की बहुचर्चित कथाकार, स्तंभकार जाहिदा हिना की पुस्तक *पाकिस्तान डायरी* पढ़ते हुए मुनीर नियाजी बरबस याद आते हैं। यह इसलिए कि लेखिका पुस्तक में संकलित अपनी छोटी-छोटी टिप्पणियों के जरिए पाकिस्तानी आवाम, सियासत, तहजीब, रहन-सहन, जीवनशैली और परंपरा व आधुनिकता के द्वंद्व से जुड़ी पोशीदा (छुपी हुई) बातें बड़ी साफगोई से सामने लाती हैं। यहां लेखिका पाकिस्तान के वे सारे रूप दिखाती हैं। जो अब तक नादीदा (अनदेखे) थे। इन टिप्पणियों में पाकिस्तान अपनी समूची खूबियों-खामियों के साथ धड़कता दिखता है।

पुस्तक पर चर्चा से पूर्व लेखिका के बारे में थोड़ी-सी चर्चा अप्रासंगिक नहीं। जाहिदा की जड़ें हिंदुस्तान से जुड़ी रही हैं। वे बिहार के शहर सहसराम में जन्मीं और फिलहाल करांची में रहती

हैं। उनकी कहानियों के अनुवाद अंग्रेजी-हिंदी सहित जर्मन, रूसी, बांग्ला, सिंधी, गुरुमुखी, पश्तो और मराठी में हुए हैं। अपने उपन्यास *न जूनूं रहा न परी रही* में जाहिदा ने विभाजन की पीड़ा को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। साथ ही उनकी गिनती पाकिस्तान के चोटी के स्तंभ-लेखकों में भी की जाती है। पिछले 18 बरसों से वे रोजनामा *जंग* उर्दू न्यूज *जहा* और सिंधी अखबार *इबरत* के लिए स्तंभ लिखती रही हैं। 2005 से जाहिदा ने *हिंदुस्तान* के अखबार *दैनिक भास्कर* के लिए 'पाकिस्तान डायरी' शीर्षक से साप्ताहिक स्तंभ लिखना शुरू किया और यह पुस्तक इस स्तंभ में प्रकाशित टिप्पणियों का संकलन है।

बुकर पुरस्कार विजेता भारत की विख्यात अंग्रेजी लेखिका अरुंधती राय ने कभी कहा था कि 'लाख बुराइयों के बावजूद लोकतंत्र का कोई विकल्प नहीं। हम लोकतांत्रिक व्यवस्था में रहने वाले तानाशाही व्यवस्था में जीने वाले लोगों की पीड़ा, दुख-दर्दों की कल्पना भी नहीं कर सकते।' फौजी हुकूमत यानी एक तानाशाही व्यवस्था में जीने, सांस लेने की पीड़ा जाहिदा के इन स्तंभ-लेखों में बार-बार एक कचोट के रूप में सामने आती है- 'हिंदुस्तान का बंटवारा होकर पाकिस्तान बना तो यही कहा गया कि नये मुल्क में जम्हूरियत (लोकतंत्र) होगी, लेकिन यहां जम्हूरियत के साथ जो कुछ हुआ वह सभी जानते हैं। मशरिकी पाकिस्तान बांग्लादेश बन गया तब भी पाकिस्तानी हुकुमत को अक्ल नहीं आई। मियां नवाज शरीफ और बेनजीर भुट्टो के जमाने में हालात कुछ बेहतर हुए लेकिन पांच बरस से फौजी हुकुमत है, जिससे लोग बहुत नाराज हैं।' (*बातें हमारी तरफ की*, पृष्ठ 118)

यहां सियासत के गलियारों की बाहरी-भीतरी खबरें हैं तो दहक रहे बलुचिस्तान के कौमपरस्त (राष्ट्रवादी) नेताओं, गुस्से से खदबदाते नौजवानों की भी बार-बार चर्चा की गई है। जाहिदा बताती हैं कि गैरबराबरी, वर्ग-भेद और अमीर-गरीब के बीच की खाई जितनी गहरी हिंदुस्तान में है उतनी ही पाकिस्तान में। बेरहम ठंड में हिंदुस्तान के साथ-साथ पाकिस्तान में भी इंसानियत ठिठुरती है 'हमारे यहां भी सर्दी रोज-ब-रोज बढ़ रही है। अमीर इस मौसम का लुत्फ उठा रहे हैं, खुश्क मेवे और कॉफी से दिल बहला रहे हैं और गरीब बेहाल हैं।.. लोग सड़कों पर खुश्क पत्तों और रद्दी कागजों को जलाकर आग तापते हुए नजर आते हैं। सबसे तबाह हाल मुजफ्फराबाद, रावलकोट और उन दूसरे इलाकों का है, जो लोग जलजले की जद में आए और अब तक उनके रहने का मुनासिब इंतजाम नहीं हो सका है।' (*बेरहम बर्फ, ठंडा लहू और ठिठुरती इंसानियत*, पृष्ठ 7)

आज जब भारत में 'स्त्री-विमर्श' और 'स्त्रीवाद' की चर्चा जोरों पर है और स्त्री एक ताकत के तौर पर पारिवारिक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप कर रही है, पाकिस्तान में स्त्रियों की दयनीय हालत जाहिदा को बेचैन करती है। अपने स्तंभ-लेखों में वह बार-बार पाकिस्तान में स्त्री-उत्पीड़न और पारिवारिक-सामाजिक व्यवस्था में स्त्री के प्रति शर्मनाक गैर-बराबरी के खिलाफ प्रतिपक्ष रचती नजर आती हैं- 'पाकिस्तान खासकर सिंध के देहातों में गैरत का कत्ल यानी 'काटोकारी' फल-फूल रही है। भाई को बहन की जायदाद पर कब्जा करना हो, बहन या बेटी अपनी मर्जी से शादी करना चाहती हो या घर के मर्दों की किसी से दुश्मनी हो, इन तमाम मुश्किलों को चुटकी बजाते हल करने का तरीका ये है कि अपने घर की लड़की या औरत को कत्ल कर दीजिए और थाने चले जाइए। थानेदार से कहिए कि आपकी बहन, बेटी, आवाज या मां आवारा थी सो अपनी इज्जत की खातिर हमने उसे कत्ल कर दिया है। पुलिस और अदालत दोनों आपसे नरमी बरतेगी और साल दो साल की सजा काटकर आप आजाद हो जाएंगे।... जिस मर्द पर आशिक होने का इल्जाम लगा हो आप उसके खानदान या कबीले से लाखों का जुर्माना ले सकते हैं।

सरकार का कहना है कि 2004 में 1250 औरतें 'कारी' कर दी गईं। ह्यूमन राइट और औरतों की तंजीमों का कहना है कि कत्ल कर दी जानेवालियों की तादाद इससे कहीं ज्यादा है और ये तादाद हर साल बढ़ रही है।' (*बातें हमारी तरफ की*, पृष्ठ 118-119) हिंदुस्तान में भी कुछ इलाकों से प्रेमी जोड़ों को फांसी पर लटका देने या गला काट लेने की इक्का-दुक्का खबरें प्रकाश में आती रहती हैं मगर पाकिस्तान में स्त्री उत्पीड़न का यह लोमहर्षक परिदृश्य तो रोंगटे खड़े कर देता है। क्या पाकिस्तान के कुछ इलाके अब भी कबीलाई संस्कृति और मध्ययुगीन बर्बरता में जी रहे हैं?

*पाकिस्तान डायरी* से गुजरते हुए इस बात का शिद्दत से एहसास होता है कि हुक्मरानों के नफरत के बीज बोने की लाख कोशिशों के बावजूद हिंदुस्तान-पाकिस्तान की जरूरत है, ठीक उसी तरह जिस तरह पाकिस्तान-हिंदुस्तान की जरूरत है। पारंपरिक, सांस्कृतिक और समाजिक जरूरत भी है। यह इसलिए कि दोनों देशों की सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलताएं एक-सी हैं और कठमुल्लावाद, स्त्री-उत्पीड़न, शोषण, गैर-बराबरी सरीखे मुद्दों से निबटने के लिए दोनों देशों के आवाम को भावना और विचार के स्तर पर एक होना होगा।

ऐसे में लेखिका की यह भावना गौरतलब है- आपके और हमारे दुख एक जैसे हैं। इन दुखों से निबटने का एक ही तरीका है कि हर बंदूक की नाल में हम गिरह बांध दें और तोप की नाल में एक फाख्ता रख दें- 'अमन की फाख्ता।' आमीन!

**— अभिषेक कश्यप**

## एक वैज्ञानिक के जीवन-संघर्ष की गाथा

**सर्वरोग निवारिणी की खोज में** : विनोद कुमार मिश्र, एलविन पब्लिशर्स, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-49, पृष्ठ, 144, मूल्य : 50 रुपये

*सर्वरोग निवारिणी की खोज में* यह पुस्तक आंध्र प्रदेश के एक गांव में जन्मे जैव-रसायन वैज्ञानिक डॉ. येल्लाप्रगडा सुब्बाराव (1895-1948) के जीवन संघर्षों और औषधि अनुसंधान के क्षेत्र में किए गए उनके विलक्षण कार्यों की गाथा है।

डॉ. सुब्बाराव का जन्म एक नियोगी ब्राह्मण परिवार में हुआ था जो शिक्षा के सहारे आधुनिक युग के योग्य बनने के लिए प्रयत्नशील था। उनके दादा येल्लाप्रगडा सुब्बाराजू येल्लन्ना के वंशज थे। सुब्बाराव की मां का नाम वेंकम्मा था। पिता जगन्नाथम् तत्कालीन मद्रास प्रांत की सरकार में राजस्व का कार्य करते थे। सुब्बाराव सात भाई-बहनों में चौथे थे। वेंकम्मा जिस मनमाने तौर-तरीके से अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहती थीं उस कारण क्षुब्ध सुब्बाराव स्कूल में अच्छे परिणाम नहीं दिखा पाए। वह अक्सर स्कूल से भाग जाते थे और शहर के बाहर जंगल से पकड़कर लाए जाते थे। कई बार घर और स्कूल से भागने का प्रयास विफल होने के बाद सुब्बाराव नियमित रूप से स्कूल जाने लगे।

परिवार पर कई तरह की विपत्तियां आने से उनका रुख नरम पड़ गया। पिता सेवानिवृत्त हो चुके थे और बेरी-बेरी बीमारी के चपेट में आ गए थे। सुब्बाराव मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में विफल रहे। दूसरे साल उन्हें मद्रास शहर में ट्रिप्लिकेन के हिंदू हाईस्कूल में पढ़ाई के लिए भेजा गया। पिता की मृत्यु के कारण जनवरी 1915 में उन्हें घर वापस लौटना पड़ा। परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो चुकी थी लेकिन मां ने अपना अंतिम स्वर्णाभूषण बेचकर सुब्बाराव के मद्रास लौटने के लिए रेल भाड़े की व्यवस्था की। मद्रास के प्रेसिडेंसी कालेज से सुब्बाराव ने गणित में अतिरिक्त योग्यता के साथ इंटरमीडिएट की परीक्षा पास की।

सुब्बाराव को इस बात का अहसास हो चुका था कि धन के बगैर वे किसी का कल्याण नहीं कर सकते। उन्होंने तभी तय कर लिया कि वे डॉक्टरी की पढ़ाई करके दवाओं का अनुसंधान करेंगे, जिससे अनेक बीमारियों पर काबू पाया जा सके। मद्रास मेडिकल कालेज की अंतिम परीक्षा में सर्जरी को छोड़कर शेष सभी पेपर्स में उन्हें बहुत अच्छे अंक प्राप्त हुए। एमबीबीएस की डिग्री की जगह उन्हें एलएमएस का सर्टिफिकेट प्रदान किया गया। कुछ दिनों तक उन्होंने डॉ. लक्ष्मीपति के आयुर्वेदिक कॉलेज में लेक्चरर की हैसियत से काम किया।

इसी दौरान उन्होंने हारवर्ड के 'स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन' में प्रवेश के लिए प्रयास जारी रखा। वह 29 सितंबर 1923 को मुंबई से जहाज द्वारा अमेरिका के लिए रवाना हुए। मई 1924 में उन्हें हारवर्ड विश्वविद्यालय से मेडिसिन का डिप्लोमा प्राप्त हो गया। उसके बाद सुब्बाराव ने प्रोफेसर आटो फोलिन के अधीन अनुसंधान कार्य शुरू किया। इन्सुलिन के बाद फास्फोक्रिएटन और फिर ए.टी.पी. के संबंध में इन्होंने शोध कार्य किए। जो समय बचता था, उसे वह हारवर्ड से पी.एच.डी. की डिग्री प्राप्त करने के लिए आवश्यक पाठ्यक्रमों को पूरा करने में लगाते थे।

हारवर्ड मेडिकल स्कूल में 1940 तक कार्य करने के बाद औषधि विज्ञान के क्षेत्र में किए जाने वाले शोध के दिशा-निर्देशन के लिए डॉ. सुब्बाराव लेडरले प्रयोगशाला चले गए। वहां उनके नेतृत्व में पालिमिक्सिन जिसे मवेशियों को चारे में मिलाकर दिया जाता है तथा ऑरियोमाइसिन नामक टेट्रासाइक्लिन जाति की पहली एण्टीबायोटिक दवा की खोज संभव हुई। ऑरियोमाइसिन को औषधि की दुनिया में 1948 में उतारा गया। यह व्यापक प्रभावशाली पहली एण्टीबायोटिक दवा थी जो ग्राम पाजिटिव तथा ग्राम निगेटिव दोनों ही प्रकार के जीवाणुओं के विरुद्ध कारगर थी। यह फ्लेमिंग द्वारा खोजी गई पेनसिलिन तथा वाक्समैन द्वारा खोजे गए स्ट्रेप्टोमाइसिन से भी ज्यादा प्रभावी थी।

वर्ष 1948 में ही डॉ. सुब्बाराव का असामयिक निधन हो गया। डॉ. सुब्बाराव के अनुसंधान निर्देशन में अमेरिका की लेडरले लेबोरेटरीज ने जिन दवाओं का विकास किया, उनके सेवन से आज विश्व में करोड़ों लोग सुखी और दीर्घ जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

विज्ञान और औषधि अनुसंधान के प्रति जीवन भर समर्पित रहे डॉ. सुब्बाराव का विवाह 1919 में ही सम्पन्न हो चुका था लेकिन अपने अध्ययन और अनुसंधान के आगे उन्होंने वैवाहिक जीवन को विशेष महत्व नहीं दिया। दरअसल सुब्बाराव ने पारिवारिक जीवन से मुख मोड़कर सारे विश्व को अपना परिवार बनाने का प्रयास किया था। ऐसे महान वैज्ञानिक डॉ. येल्लाप्रगड़ा सुब्बाराव के कार्यों को आज भी हमारे देश में बहुत कम लोग जानते हैं। विनोद कुमार मिश्र ने डॉ. सुब्बाराव की जीवनी को हिंदी में प्रस्तुत कर सचमुच एक महत्वपूर्ण काम किया है।

**– अनुराधा**

## सहयोगी रचनाकार

**विष्णु प्रभाकर** : बी–105, महाराणा प्रताप एन्क्लेव, पीतमपुरा, दिल्ली–110034

**मैनेजर पाण्डेय** : 52 दक्षिणापुरम, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली–110067

**अमर गोस्वामी** : द्वारा रे–माधव पब्लिकेशन्स, प्रा. लि., 96 विनोबापुरी, लाजपत नगर, पार्ट–2, नई दिल्ली–110024

**सत्येन्द्र शरत्** : एफ–35 बी एमआईजी फ्लैट, हरिनगर, नई दिल्ली

**ज्ञानप्रकाश विवेक** : 1875, सेक्टर–6, बहादुरगढ़–124507 (हरियाणा)

**सिद्धनाथ कुमार** : आलोक, हेरसल, देवीमंडप मार्ग, रांची (झारखंड)

**देवेंद्र नाथ ठाकुर** : ग्राम–अरनियां, पो. जंदाहा, जि. वैशाली–844505 (बिहार)

**देवेंद्र चौबे** : वार्डेन फ्लैट–03, पेरियार हॉस्टल, जे.एन.यू., नई दिल्ली–110067

**आशा रानी लाल** : शिवम् मो. आनंदनगर, प्रोफेसर्स कालोनी, जिला–सिवान–841226 (बिहार)

**चन्द्रशेखर पाण्डेय** : एन 6–2एल–11, इन्द्रानगर, सुन्दरपुर, वाराणसी (उ.प्र.)

**रमेश चंद्र पंत** : उत्कर्ष : विद्यापुर, द्वाराहाट, अल्मोड़ा–263653 (उत्तरांचल)

**विद्याभूषण** : प्रतिमान प्रकाशन, किशोर गंज, हरमू पथ, रांची–834001 (झारखंड)

**कुहेली भट्टाचार्य** : 123 सुंदर अपार्टमेंट, जी.एच.–10, नई दिल्ली–110087

**रत्नावली कौशिक** : सी–76 एफ गंगोत्री, अलकनंदा, नई दिल्ली–110019

**श्याम सुशील** : ए–13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096

**अमरजीत सिंह** : एच–17 68, सेक्टर–7, रोहिणी, दिल्ली–110085

**ओमप्रकाश सिंह** : 259, शांतिनिकेतन, साकेतनगर, लालगंज, रायबरेली (उ.प्र.)

**अभिषेक कश्यप** : द्वारा श्री शरत कुमार, बी–5 22, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिलली–29

**अनुराधा** : ए–13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096

**अपर्णा शर्मा** : 149 बी, एकता एन्क्लेव, पीरागढ़ी चौक, नई दिल्ली–110087

**मदन गोपाल** : बी–2 17 बसंत विहार, नई दिल्ली–110057

**बी.एम.डी. अग्रवाल** : 69, डी.डी.ए.फ्लैट्स, गुलमोहर एन्क्लेव, नई दिल्ली–110049

**बंसीलाल परमार** : बी. 52 शासकीय आवास, सुवासरा, जिला–मंदसौर–458888

**संजीव शाश्वती** : बी–13 17, छतरपुर एक्सटेंशन, नई दिल्ली–110030

*हिंदी भवन में साइजी माकिनो को हिंदी रत्न से सम्मानित किए जाने के अवसर पर दिल्ली के उपराज्यपाल बनवारीलाल जोशी डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी और हिन्दी भवन के मंत्री डॉ. गोविन्द व्यास*

# साइजी माकिनो को हिंदी रत्न सम्मान

राजर्षि टंडन जयंती के अवसर पर हिंदी भवन द्वारा आयोजित 'हिंदी रत्न' सम्मान समारोह में जापानी हिंदीसेवी साइजी माकिनो को सम्मानित किया गया। यह सम्मान अहिंदी भाषी हिंदी सेवकों को दिया जाता है। लेकिन यह पहला अवसर था जब यह सम्मान किसी विदेशी हिंदीसेवी को दिया गया।

समारोह की अध्यक्षता कर्नाटक के राज्यपाल एवं हिंदी भवन के अध्यक्ष त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी ने की। इस अवसर पर दिल्ली के उपराज्यपाल बनवारीलाल जोशी, जापानी राजदूत यासुकोनी इनोकि, चिंतक और विधिवेत्ता लक्ष्मीमल्ल सिंघवी तथा वयोवृद्ध साहित्यकार पद्मविभूषण विष्णु प्रभाकर उपस्थित थे। समारोह के आरंभ में जापानी राजदूत यासुकोनी इनोकि ने हिंदी के प्रथम सेनापति महर्षि दयानंद के तैल चित्र का अनावरण किया।

सम्मान ग्रहण करने के बाद साइजी माकिनो ने अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किए- ''इतना बड़ा सम्मान मेरे लिए एक बोझ है। आज हिंदी की वजह से ही मैं यहां हूं। मुझे पहले भारत और हिंदी के बारे में कुछ नहीं मालूम था लेकिन भारत में गांधीजी और बिनोवा जी के संपर्क में आकर मुझे हिंदी सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हिंदी विश्वशांति की भाषा है और जब तक मैं जिऊंगा हिंदी के साथ रहूंगा।'' हिंदी में बोलने का अभ्यास न होने के कारण उन्होंने सभी से अपने ग्रंथ *भारत वर्ष में 45साल : मेरी हिंदी यात्रा* पढ़ने का अनुरोध किया।

यासुकोनी इनोकि ने साइजी को सम्मान दिए जाने पर प्रसन्नता व्यक्त की और भारत-जापान के सांस्कृतिक संबंधों को सृदृढ़ बनाने में योगदान देने के लिए साइजी की प्रशंसा की। उन्होंने हिंदी से जापान के जुड़ाव के बारे में बताते हुए कहा कि संस्कृत जापानियों के लिए पवित्र भाषा है, क्योंकि बौद्धधर्म के ग्रंथ इसी भाषा में लिपिबद्ध हैं और संस्कृत हिंदी भाषा की जननी है अत: हमारे लिए हिंदी भी एक पवित्र भाषा है।

वयोवृद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर ने आशीर्वचन देते हुए कहा कि साइजी माकिनो को यह सम्मान देने के लिए में हिंदी भवन को धन्यवाद और साइजी को बधाई देता हूं। बनवारीलाल जोशी ने इस बात के लिए साइजी माकिनो की प्रशंसा की कि उन्होंने अहिंदी भाषी व्यक्तित्व को हिंदी में समाहित किया। चिंतक एवं विधिवेत्ता लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने साइजी माकिनो की प्रशंसा करते हुए कहा कि हिंदी जिनकी मातृभाषा नहीं थी उन्हीं ऋषि दयानंद ने हिंदी का शंखनाद किया। अध्यक्षीय भाषण में त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी ने कहा, कि साइजी ने अपने छोटे से वक्तव्य में गागर में सागर भर दिया है।

अंत में हिंदी भवन के मंत्री डॉ. गोविन्द व्यास ने सभी को साधुवाद दिया। समारोह का संचालन इंदु जैन ने किया।

**प्रस्तुति : अपर्णा शर्मा**

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस)-05/3222/2006-08 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली में पोस्ट के लिए लाइसेंस U (DN) 49/2003.05
Postal Regn. No. DL(S)-05/3222/2006-08
Licenced U(DN) 49/2003-05 to post without pre-payment at RMS Delhi
दिल्ली डाक आर एन 701/57
Delhi Postal RN 701/57

**वार्षिक मूल्य : 70 रुपये**

चित्र बंसीलाल परमार

प्रकाशक व मुद्रक वीना जैन, निदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए दिल्ली प्रेस, ई-3, झण्डेवाला इस्टेट, नई दिल्ली-110055
से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110 003 से प्रकाशित। संपादक : प्रवीण उपाध्याय